## पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज के ग्रन्थ

| ग्रन्थ | मूल्य |
|---|---|
| वेदार्थपारिजात | ५००.०० |
| रामायण मीमांसा | २००.०० |
| श्री विद्यारत्नाकर | १५०.०० |
| मार्क्सवाद और राम-राज्य | ५०.०० |
| विचार पीयूष | १००.०० |
| भक्ति-सुधा | १५०.०० |
| चातुर्वर्ण्यसंस्कृतिविमर्श १-२ | ३०.०० |
| संकीर्तन मीमांसा एवं वर्णाश्रमधर्म | १५.०० |
| श्री विद्यावरिवस्या | ५०.०० |
| वेद का स्वरूप और प्रामाण्य (२ भाग) | २५.०० |
| अहमर्थ और परमार्थसार | २०.०० |
| राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ और हिन्दू धर्म भक्तिरसार्णव | २०.०० |
| वेदस्वरूपविमर्श | २०.०० |
| पूंजीवाद, समाजवाद और राम-राज्य | २०.०० |
| संघर्ष और शान्ति | २०.०० |
| क्या सम्भोग से समाधि | १५.०० |
| राहुल जी की भ्रान्ति (प्रेस में) | ---- |
| वेदप्रामाण्यमीमांसा | ५.०० |
| तिथ्यादिनिर्णयः कुम्भनिर्णयश्च | ५.०० |
| धर्म ओर राजनीति | ५.०० |
| सक्षिप्त जीवनी | ५.०० |
| दशनामापराध | १०.०० |
| ईश्वर साध्य एवं साधन | ५.०० |
| वेदान्त प्रश्नोत्तरी | १०.०० |
| विभीषण शरणागति | १०.०० |
| आस्तिक-नास्तिक वाद | १०.०० |

लेखक :
धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज

सम्पादक :
स्वामी सदानन्द सरस्वती (श्री वेदान्ती स्वामी)

# नास्तिक-आस्तिक वाद

लेखक :

धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज

सम्पादक :

श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती (श्री वेदान्ती स्वामी)

प्रकाशक :

**श्री करपात्री धाम**

केदारघाट, वाराणसी

फोन : ३२१३६१

प्रकाशक :
**श्री करपात्री धाम**
केदारघाट, वाराणसी
फोन : ३२१३६१

सहायतार्थ-१०) रूपया

मुद्रक :
**लायन्स प्रिंटर्स**
नरहरपुरा, वाराणसी
फोन न० ३३०३५६

श्री करपात्री जी अधर्म अन्याय शोषण उत्पीडन, वर्ग-विद्वेष, संघर्ष, विध्वंस एवं विनाशकारी शक्तियों का विनाश करने वाली महाशक्ति के प्रतीक थे। जब भारत वर्ष यूरोपीय साम्राज्यवाद के खूनी पंजों में जकड़ा हुआ था, धर्माभासमूलक शोषण के नये-नये षडयन्त्र पनप रहे थे, साम्राज्यवादियों के कारण देश का अन्ध साम्प्रदायिक आधारों पर विभाजन होने को था तब आर्यावर्त की भूमि से विश्व के राजनीति पटल पर

जिस महापुरुष ने अवतीर्ण होकर भारतवर्ष के विभाजन का सर्व प्रथम सक्रिय विरोध किया एवं तत्कालीन वायसराय के बँगले पर कुछ सन्यासियों के साथ अपनी गिरपतारी दी उसी महापुरूष की ७९ वी जयन्ती के पुण्य पर्व पर यह पुस्तक देश के नवयुवकों को सौपी गयी थी। 'करपात्री' शब्द विश्व की शोषित मानवता के मसीहा का बोधक है। 'करपात्रीवाद' विश्व का वैज्ञानिक एवं नवीनतम राजशर्दन हैं। अन्य राजनीतिक विचाराभासों की तरह करपात्रीवाद कोरी कल्पना नहीं है परन्तु अद्ययावत् उपलब्ध सभी वादों का प्रतिवादपूर्वक ऐतिहासिक वैज्ञानिक सम्वाद है। करपात्रीवाद राजदर्शन, पूँजीवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद को शोषकों की मिलीभगत मानता है तथा ईश्वर को हाजिर-नाजिर मानकर प्रत्येक प्राणी को स्वधर्मानुष्ठान के जन्मसिद्ध आर्थिक अधिकारों के लिये संघर्ष का वह ब्रह्मास्त्र प्रदान करता है जिसे धर्म ( **Basic-force**) कहते हैं। राम धर्म हैं तथा 'राज्य' उनकी 'महाशक्ति सीता' हैं। राम, युधिष्ठिर, चन्द्रगुप्तमौर्य, पुष्यमित्र, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र आदि उसी शक्ति की चिनगारियाँ हैं। उन्होनें राष्ट्रीय एकता अखण्डता एवं धर्मनिरपेक्षता की बलिवेदी पर अपने आप को निंवछावर कर दिया जिसके फलस्वरूप दीर्ध अन्तराल के बाद भारत में आज दासता के प्रतीकों के विरुद्ध आन्दोलन के लिए जनता कमर कस कर खड़ी है। स्वामी जी ने देश को जो राजदर्शन तथा अर्थशास्त्र प्रदान किया है वह अतीत में सुखकारी एवं भविष्य का विकल्प है। उस कड़ी में 'नास्तिक-आस्तिक वाद' यह उनकी ही कृति है जो देश के अराजकतत्वों को भी राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिये समर्पित होने की प्रेरणा देगी।

इस पुस्तक के पुन: प्रकाशन में धर्म सम्राट स्वामी करपात्री जी महाराज के शिष्य श्री सर्वेश्वर ब्रह्मचारी महाराज का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। ब्रह्मचारी जी गुरूजी के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में सतत् साधनारत हैं। यह अतिशय प्रसन्नता एवं प्रशंसा का विषय है।

मेरा निश्चित मत है कि महाराज जी की सरल सुबोध शब्दावली इस गूढ़ सिद्धान्त को आस्तिकों, नास्तिकों सभी तक पहुँचने में सफल होगी-

"तमसो माँ ज्योतिर्गमय"

**वेदान्ती स्वामी**
करपात्री धाम
केदार घाट, वाराणसी
फोन : ३२१३६१

# नास्तिक-आस्तिक वाद

मार्क्सवादी विद्वान धर्म के समान ही ईश्वर को भी अनावश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में 'भीरुता या भ्रान्ति के कारण कल्पनाप्रसूत भूत प्रेत ही सभ्यता के साबुन से धुलते-धुलते देवता बन गया, और फिर वह कल्पित देवता ही विज्ञान की चमत्कृति से चमत्कृत होकर ईश्वर या निर्गुण ब्रह्म बन गया। ईश्वर की कल्पना से लाभ के बदले हानि अधिक हो सकती है। कारण, ईश्वरीय शास्त्र या ईश्वरीय नियम का नाम लेकर अन्धविश्वासी लोग प्रगति के मार्ग में बार-बार रोड़ा अटकाते रहते है।'

एक कम्युनिस्ट का कहना है कि 'जो ईश्वर या धर्म को मानते हुए भी मार्क्स की अर्थनीति कार्यान्वित करने की बात करता है, वह या तो धूर्त मक्कार है अथवा महामूर्ख। ईश्वर दिखावटी हुण्डी नहीं है ईश्वर माना जायेगा तो उसके नियम भी मानने पड़ेगें। फिर व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदि का राष्ट्रीयकरण भी ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध ठहरेगा।'

परन्तु ईश्वर यदि सत्य वस्तु है तो किसी के चाहने या न चाहने से उनका कुछ भी बिगड़ नहीं सकता। भले ही चमगादड़ों को सूर्य का प्रखर प्रकाश असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक प्रतीक हो, परन्तु एतावता सूर्य अतत् अनावश्यक,एवं हानिकारक सिद्ध नहीं होते। वैसे किसी को ईश्वर भी भले अतत् फिर भी उसकी प्रचण्ड सत्ता का अपलाप होना असम्भव है। वस्तुत: सूर्यनारायण से भी अधिक सूर्यचन्द्र का भी भासक ईश्वर एक स्वत: सिद्ध सर्वमान्य वस्तु है। यह बात आधुनिक अन्वेषण, न्याय-सांख्य-वेदान्त-दर्शन, आस्तिक सिद्धान्तों तथा आस्तिक वादों से स्पष्ट सिद्ध है। धर्म एवं ईश्वर परम सत्य वस्तु है, इसीलिए सर्वकाल एवं सर्वदेश में इसकी मान्यता रही है। कहा जाता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के प्रसङ्ग में अमेरिका एवं अफ्रीका के कई ऐसे प्रदेशों में वैज्ञानिकों ने अनुसंधान किया तो वहाँ यही पता चला कि वहाँ के जंगली लोगों में धर्म

एवं ईश्वर के सम्बन्ध में किसी प्रकार की धारणा नहीं है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि जब उन प्रदेशों में जाकर कई आस्तिकों ने वहाँ के लोगों से बात की तो पता चला कि वे लोग आसमानी पिता एवं स्वर्गीय लोक पर विश्वास रखते हैं: परन्तु विदेशी सभ्य कहे जाने-वाले लोगों की पहले तो वे बात ही नहीं समझते और समझने पर भी डरकर अपना भाव नहीं व्यक्त कर सकते। प्रोफेसर मैक्समूलर के अनुसार पादरी डाक्टर कोल, जुलूजाति के मध्य में बहुत दिनों तक रहे। जब वे उनकी भाषा भली प्रकार बोलने और समझने लगे तो उन्हें मालूम पड़ा कि जुलूजाति में भी धर्म है। उनके विश्वासानुसार प्रत्येक घराने का एक पूर्वज था और फिर समस्त मानव जाति का भी एक पूर्वज था, जिसका नाम उन्होने 'उनकुलकुलू' (प्रपितामह) रखा है। जब उनसे पूछा गया कि उनकुलकुलू का पिता कौन है? तो उन्होने उत्तर दिया कि वह बाँस से निकला था। जुलू- भाषा में बाँस को उथलङ्ग कहते हैं। बाप संतान का उथलङ्ग कहलाता है। जैसे बाँस से कुल्ले फूटते है, उसी प्रकार बास से संतान की उत्पत्ति होती है। डाक्टर कौल से एक जुलू ने कहा कि 'यह ठीक नहीं कि स्वर्गीय राजा को हमने गोरे आदमियों से सुना है। गर्मियों में जब बादल गरजते हैं, तो हम कहते हैं, राजा—(ईश्वर) खेल रहा है।' एक बुड्ढे ने कहा कि ' हम बचपन में यहीं सुना करते थे कि राजा ऊपर है, हम उसका नाम नहीं जानते। संसार को पैदा करनेवाला उम्दबूको (राजा) है, जो कि ऊपर है।' एक बुड्ढी ने कहा कि जिसने सब संसार बनाया, उसी ने अन्न भी बनाया। 'ईश्वर कहाँ है? यह पूछने पर वृद्ध लोग कहते हैं कि वह स्वर्ग में है, राजाओं का भी राजा है। मैडम ब्लेवैट्स्की का कहना है कि जिस प्रकार मछली पानी के बाहर नहीं रह सकती, उसी प्रकार साधारण मनुष्य भी किसी प्रकार धर्म के बाहर नहीं रह सकता।'

## अचेतन का नियामक-चेतन

संसार में चेतन-अचेतन दो प्रकार के पदार्थ मिलते है, उनमें अचेतन से चेतन प्रबल होता है। एक चींटी बड़े-बड़े मिट्टी के चट्टानों को



काट देती हैं। छोटे-छोटे कीड़े पहाणों को तोड़ देते हैं। छोटा पक्षी बड़े वृक्षो को हिला देता है। वस्तुतः जहाँ चेतनता है, वहीं बल होता है। जड़ वस्तुएँ निर्बल होती हैं। घोड़ा गाडी खींचता है, गाड़ी की अपेक्षा घोड़ा बलवान् है। जड़-शरीर भी चेतन के सहारे चलता है। मरे हुए हाथी से जीवित चींटी भी बलवान् है। चेतनों में भी मनुष्य की शक्ति बहुत ही प्रबल हैं। एक शिशु भी हाथी का नियन्त्रण करता है। सिंह जैसा क्रूर जन्तु भी मनुष्य की इच्छा का अनुसरण करता है जल, वायु, बिजली आदि भूतों पर मनुष्य का अधिकार है। रेल,तार, वायुवाय आदि मनुष्यशक्ति के ही परिचायक हैं। मनुष्य सृष्टि में भी रद्दोबदल करता रहता है। वह समुद्र को पार कर, पहाड़- जंगल को काटकर शहर बसा देता हैं, नदियों पर बड़े-बड़े पुल बाँध देता है। उनके प्रवाह को बदल देता है, स्थलों में जल एवं जल में स्थल बना देता है। फिर भी विचित्र सृष्टि में कितने ही प्राणी मनुष्य से भी कहीं अधिक बलवान् होते हैं। गृध्र की दृष्टि और हिरणों की दौड़ के सामने मनुष्य की शक्ति कमजोर हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक, बलवान्, बुद्धिमान भी महाशक्तिमान् सर्वज्ञ के सामने कुछ नहीं हैं। बड़े-बड़ें बलवान् अन्त में अपने-आपकों प्राकृतिक शक्तियों के सामने नगण्य पाते हैं। वस्तुतः निश्चय के आधार पर आशा होती है और आशा के आधार पर ही प्राणी की प्रवृत्ति होती है।

कहा जाता है, 'ज्योलोजी (भूगर्भशास्त्र) ने पता लगाया कि अमुक चट्टाने किस प्रकार और कब बनीं। हिमालय-जैसा महान् पर्वत भी कभी-न-कभी उत्पन्न हुआ है। एक-एक वस्तु दूसरे की अपेक्षा नयी है। वृक्ष का फूल पत्ते से नया है। पत्ता भी जड़ से नयी और जड़ भी उस मिट्टी की अपेक्षा नयी है, जिसपर जड़ उत्पन्न हुई। कहा जाता है 'पृथ्वी' एक आग का गोला थी जैसे अङ्गारों पर ठढ़ा होने के समय सिकुड़न पड़ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी का गोला जब ठंडा होने लगा तो उसमें सिकुड़न पड़ गयी। ऊँचें स्थान पहाड़ हो गयें,नीचें समुद्र बन गये। बहुत पदार्थों की उत्पत्ति हम देखते है। बहुतों का हम विश्लेषण कर सकते हैं। वे इन्द्रियाँ जिनसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है, और वे पदार्थ जिनका ज्ञान प्राप्त किया

जाता हैं दोनों ही कार्य हैं। जिन-जिन वस्तुओं का विश्लेषण हो सकता है, वह कार्य समझा जाता है। जिनका विश्लेषण या विभाजन नहीं हो सकता वे ही परमाणु हैं। आजकल यद्यपि कहा जाता है कि परमाणु का विभाजन वैज्ञानिक कर लेते हैं। परन्तु जब परमाणु की यही परिभाषा है, तब तो जिसका विश्लेषण हो सकता है, वह परमाणु हैं ही नहीं। जो लोग परमाणु न मान कर केवल शक्ति ही मानते हैं, उन्हें भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि शक्ति कभी वर्तमान जगत के रूप में परिणत हुई। चाहे परमाणुओं से, चाहे शक्ति से, चाहे प्रकृति से, चाहे ब्रह्म से जगत् की सृष्टि हुई और उस सृष्टि में क्रम भी मान्य होने चाहिये। यह नहीं कि पहले फल हुआ फिर फूल हुआ। माली को यह नियम मालूम होता है कि पहले अङ्कुर, फिर नाल, स्कन्ध, शाखा, पल्लव,फल का अविभार्व होता है। इसी तरह निम्ब के बीज एवं आम की गुठली से तथा अन्यान्य विभिन्न बीजों से विभिन्न ढ़ंग के अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं। निम्ब का बीज बोने से आम का फल नही लगता, यह नियम भी लोगों को ज्ञात है। इसी तरह गेहूँ बोने से चने की उत्पत्ति नहीं होती। मनुष्य तथा प्राणियो की भी वृद्धि का नियम है। शैशव, यौवन, वार्धक्य अवस्थाएँ क्रमेण आती है। चिकित्सक चिकित्सालयों में शारीरिक नियमों के आधार पर ही चिकित्सा करते हैं। पहाड़ एवं पहाड़ी नदियों का निर्माण कैसे होता है; इसका किस ओर क्यों प्रवाह है, आदि के सम्बन्ध में भूगर्भ के विद्वानों का भी भूगर्भ- सम्बन्धी नियम प्रसिद्ध है। मनोविज्ञान की जटिलता और भी विलक्षण है। यद्यपि मन की गति बड़ी विलक्षण होती है, फिर भी मनोविज्ञान के नियम हैं ही। इसी तरह सभी शास्त्रों के नियम हैं। इस तरह सृष्टि की नियंमबद्धता दिखाई देती है। इन नियमों का विधायक और पालक कोई मान्य होना चाहिए। नियम की दृष्टि से सृष्टि में एकता है।

## सृष्टि की नियम बद्धता

हर एक नियम का प्रयोजन भी होता है। लड़को का प्रतिदिन एक साथ विद्यालय में जाने का नियम व्यर्थ नहीं होता। प्रयोजन ही कार्य को



सार्थक बनाता है। संसार की सभी वस्तुओं एवं घटनाओं से किसी विशेष प्रयोजन की सूचना मिलती है। भले ही प्रयोजन समझ में न आये, परन्तु है अवश्य। एक मशीन में हजारों पुर्जे होते हैं, कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई गोला, कोई टेढ़ा— इनमें परस्पर पर्याप्त भिन्नता हैं, परन्तु बनानेवाले का उद्देश्य कार्यसिद्धि ही है। कपड़ा बुनना, आटा पीसना, पुस्तक छापना आदि इसी प्रयोजन से प्रेरित होकर वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न पुर्जो को बनाकर फिर सबको इस प्रकार मिलाया कि जिससे कार्य की सिद्धि हो। पुर्जे न तो सब बराबर हैं, न एक-से हैं न सबके साथ एक से जुड़े हुए हैं। सब असमान होते हुए भी एक उद्देश्यपूर्ति के लिए जुड़े हुए है। उनमें बहुत-से कलपूर्जे छोटे एवं भद्दे हैं। उनके स्थान पर अच्छे एवं सुन्दर पुर्जे हो सकते हैं, परन्तु कल चलाने में जिसका उपयोग नहीं, वह कितना भी सुन्दर हो, व्यर्थ ही है। इसी तरह जगत् एक महाप्रयोजन के लिये निर्मित है। इसकी छोटी-से-छोटी वस्तुऐ एवं घटनाये भी निष्प्रयोज नहीं हैं। राबर्ट फ्लिप्स के अनुसार जिस मण्डल का हमारी पृथ्वी एक अवयव मात्र है, वह अति विशाल, विचित्र तथा नियमित है। जिन ग्रहों, उपग्रहों से इसका निर्माण है उनका भी परिमाण बहुत विस्तृत है। हमारी पृथ्वी ही सूर्य चन्द्र आदि से इस प्रकार सम्बन्धित है कि बीज बोने, खेत काटने के समयों में बाधा नहीं पड़ती। समुद्र के ज्वारभाटे कभी हमें धोखा नहीं देते। करोड़ों मण्डलों में से सूर्यमण्डल एक है। बहुत से तो इससे असंख्य गुने बड़े है। फिर ये करोड़ो, अरबों सूर्य एवं तारागण जो आकाश में बिखरे हैं, परस्पर एक-दुसरे से सम्बद्ध तथा गणित के गूढ़तम नियमों के इतने अनुकूल हैं कि उनमें प्रत्येक की रक्षा होती है और प्रत्येक स्थान में साम्य तथा सौन्दर्य दिखाई देता है। प्रत्येक ग्रह दूसरे के मार्ग पर प्रभाव डालता है। प्रत्येक कोई-न-कोई ऐसा कार्य कर रहा है, जिसके बिना न केवल वही किन्तु समस्त मण्डल नष्ट हो सकता था। यह समस्त मण्डल बड़ी विलक्षणता से बना हुआ है। जो घटनाये देखने में भयानक और विघ्नरुप प्रतीत होती है,

वे वस्तुत: उसे नष्ट होने से रोकती एवं विश्व की दृढ़ता का साधक होती हैं। क्योंकि वे परस्पर अपनी शत्तियों का इस प्रकार व्यय करती हैं कि एक नियत समय में उनमें सहयोग हो जाता है। यह सहयोग ही विशाल जगत् के विशाल प्रयोजन का परिचायक है।

एक छोटा सा पुष्प जहाँ मनुष्यो की आखों को तृप्त करता है, उस सुगन्ध प्राणों को आनन्द देता है, वैद्य लोग उसका औषध में भी प्रयोग करते है, चित्रकार उससे चित्रकारी सीखते हैं, रँगरेज रंग निकालते हैं, कवि काव्य में उससे सहायता लेते हैं, भ्रमर उसका रसास्वादन करता है, शहद की मक्खियाँ उससे शहद निकालती हैं, तितलियाँ उन फूलों पर बैठकर अलग आनन्द लेती हैं उसके बहुत-से ऐसे भी प्रयोजन हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं जानता। इतना प्रयोजन सिद्ध करके भी बृक्ष की संततिरक्षा के लिये वह बीज उगाता है। यह एक छोटे-से फूल का कार्य है। इसी प्रकार संसार की सभी वस्तुओं के अनेक विशाल प्रयोजन हैं। संसार कितना विशाल है? समुद्र, पहाड़, पृथ्वा—पृथ्वी से बहुत बड़ा सूर्य, और फिर करोड़ों सूर्य' अरबों तारे वेदान्त के मतानुसार जल, वायु, आकाशादि—' सब उत्तरोत्तर एक दूसरे से दस-दस गुने बड़े हैं। फिर ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड माया के एक अंश में हैं वह माया भगवान के एक अंश में ऐसी प्रतीक होती है, जैसे महाकाश के एक प्रदेश में बादल का छोटा सा टुकड़ा।

## सूक्ष्मता की महत्ता

स्थूलता के साथ ही संसार में सूक्ष्मता का भी अत्यन्त महत्त्व है। जो जल आज बर्फ या नीलमणि के रूप में स्थूलरूप से उपलब्ध हो रहा है, वही कभी बादल और उससे भी पहले सूर्य की रश्मियों में था। सूर्यरश्मिका वह नगण्य कण जिसे परमाणु कहा जा सकता है, उसका पाँचवाँ हिस्सा स्पर्शतन्मात्रा था। उनके अल्पांश में वायु और वायु के अल्पांश में प्राण, प्राण के अल्पांश में मन और मन में ब्रह्माण्ड था। फिर ब्रह्माण्ड के भीतर



अनन्तकोटि प्राणी और मन थे, उन मनों में फिर भी उसी तरह ब्रह्माण्ड की सत्ता थी। इस तरह एक सूक्ष्म वटबीज-कणिका में महान् वटवृक्ष का अस्तित्व और उस वटवृक्ष में अपरिगणित बीज-कणिका और उन कणिकाओं में अनन्त वट-वृक्ष का अस्तित्व एक साधारण-सी बात जँचने लगती है।

इसी तरह विश्व के छोटे-छोटे नियमों को देखते हैं, तो नियमों का समूह उसी ढंग से एक विशाल नियम बन जाते हैं। जैसे छोटे-छोटे कणों का समूह एक पहाड़। समुद्र भी जलकणों का समुदाय ही है। यद्यपि मनुष्यकृत वस्तुओं में बी बड़ी-बड़ी विलक्षणता दिखायी देती है। बड़े-बड़े विशालकाय पुल, दुर्ग, बाँध चकित कर देते हैं, विद्युत के विचित्र चाकचिक्य चन्द्र-सूर्य से होड़ करते हैं, वायुयान का चमत्कार भी कुछ ऐसा ही है। फिर भी यह सब स्वाभाविक ईश्वरीय वस्तुओं का एक छोटा सा अनुकरण मात्र है। कितना भी बड़ा विशाल एवं नियमबद्ध संसार कार्य ही है, इसकी कभी-न-कभी सृष्टि हुई है, यह मानना पड़ता है। किसी भी कार्य के लिये उपादान निमित्त एवं साधारण कारण अवश्य होते हैं। जैसे एक घट का मिट्टी उपादान, कुलाल निमित्त एवं देशकाल आदि साधारण कारण होते हैं। साधारण भी क्रिया छोटी-छोटी अनेक क्रियाओं का समुदाय ही होती है। एक घट-निर्माणरूप क्रिया में कितनी ही चेष्टाओं का समुदाय है। संसार के अनन्त क्रियजालों में बहुत-सा क्रियाएँ मनुष्यकृत होती हैं, जैसे घट, पट, मठ आदि का बनाना, रोना, हँसना, चलना आदि। जब घट का निर्माण मनुष्य द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं, तो किसी भी घट को देखकर, उसका निर्माता कोई मनुष्य होगा, यह अनुमान कर लिया जाता है। इसी तरह किसी भी कार्य को देखकर उसके कर्ता का अनुमान होना स्वभाविक है बहुत से कार्य हैं जिनका मनुष्यद्वारा निर्माण सम्भव नहीं, जैसे वृक्ष का उगना, सूर्य का निकलना, भूकम्प का आना आदि। ये सभी क्रियाएँ हैं, इनका भी कोई कर्त्ता होना आवश्यक है। नास्तिक मेज का बनानेवाला बढ़ई तो अवश्य मानता है, परन्तु वृक्षों, पहाड़ों को बनाने वाला कर्ता आवश्यक नहीं मानता। लोटे का बनानेवाला ठठेरा जरूरी है

परन्तु नदी, समुद्र के लिये कर्त्ता आवश्यक नहीं।

## सृष्टि का सकर्तृकत्व

संसार की सभी क्रियाएँ दो ही प्रकार की हैं। एक प्राणिकृत, दूसरी अप्राणिकृत। सिद्धकोटि की वस्तुएँ दृष्टान्तकोटि में आती हैं, साध्यकोटि की नहीं। दृष्टान्त वहां होता है, जो दोनों पक्षों को मान्य होता है। सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदि सावयव होने से कार्य हैं। आस्तिक कह सकता हैं कि जैसे मेज आदि कर्त्ता से निर्मित होते हैं, वैसे ही कार्य होने से सूर्य आदि भी किसी (ईश्वर) कर्त्ता से निर्मित हैं। यहाँ मेज का दृष्टान्त आस्तिक-नास्तिक दोनों को ही मान्य है। नास्तिक कहता है कि चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदि के कर्त्ता आवश्यक नहीं हैं, जैसे नदी बहने के लिये कोई कर्ता आवश्यक नहीं होता। परन्तु नास्तिक का दृष्टान्त सिद्धकोटि में नहीं है; किन्तु साध्यकोटि में है। आस्तिक के लिये नदी का बहना, सूर्य का निकलना—दोनों ही एक कोटि में हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र आदि का उगना ईश्वर प्रेरणापूर्वक होता है, उसी तरह नदी का बहना भी ईश्वरकृत ही है। चार्वाकमतानुयायी कहते हैं कि 'अविनाभाव सम्बन्ध दुर्ज्ञेय होता है' अतः अनुमानादि प्रमाण मान्य नहीं हैं। धूमादि ज्ञान के अनन्तर जो अग्नयादि में प्रवृत्ति होती है, वह प्रत्यक्षमूलक है अथवा भ्रान्ति से ही समझनी चाहिये। क्योंकि जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—यह जानना दुष्कर है; क्योकि सर्वदेश, सर्वकाल के धूम-वह्नि का जिसे ज्ञान हो, वही ऐसी बात कह सकता है। परन्तु किसी भी मनुष्य को सर्वदेशकाल के धूम और वाह्नि का ज्ञान होता ही नहीं। फिर वह कैसे कह सकता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होता है। कतिपय स्थल में तो यह देखा गया है कि जहाँ-जहाँ वाह्नि है, वहाँ-वहाँ धूम होता है, पर अग्नितप्त लौहपिण्ड में व्यभिचार दीखने से व्यभिचार निश्चित हो जाता है।' परन्तु चार्वाक का यह कहना भी तभी सम्भव होता है जब कि अनुमानादि प्रमाण मान्य हों; क्योंकि प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमानादि प्रमाण नहीं हैं, यह कहना भी अज्ञ, सन्दिग्ध, विपर्यस्त तथा जिज्ञासु के प्रति ही उचित है। जिस किसी के प्रति



वचन प्रयोग को पागलपन का ही परिणाम समझा जाता है। दूसरों के अज्ञान, संशय, भ्रान्ति या जिज्ञासा दूसरे को प्रत्यक्ष प्रमाण से कभी भी विदित नहीं हो सकते। अत; उनके वचनों, मुखाकृति या व्यवहार से अन्य के संशय अज्ञान आदि का अनुमानादि से बोध होता है तथा अज्ञान-संशयादि मिटाने के लिये वचन-प्रयोग सार्थक होता है।

चार्वाक अङ्गनालिङ्गनजन्य सुख को पुरुषार्थ कहता है। इससे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुख और स्त्रीगमन का अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि स्त्रीगमन और सुखका अविनाभाव सम्बन्ध न हो तो उस सुख को पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार क्षुधा-निवृत्ति के लिये नियमतः भोजन में प्रवृत्ति भी सिद्ध करती है कि प्राणी अनुमान-प्रमाण मानकर ही क्षुधा-निवृत्ति के लिये भोजन-निर्माण में संलग्न होता है। उसी प्रकार कृषि, व्यापार आदि सभी कार्यों में आनुमानिक कार्यकारणभाव का निश्चय करके ही प्राणियों की प्रवृत्ति होती है। बिना अनुमान -प्रमाण अङ्गीकार किये आस्तिक, नास्तिक चार्वाक ही क्या—पशु तक की भी कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती। पूर्व प्रवृत्तियों से लाभ देखकर तादृश प्रवृत्तियों से लाभ का अनुमान करके प्राणी प्रवृत्त होता है। अनुमान बिना माने प्रत्यक्ष भी व्यर्थ हो जाता है अनुमान के आधार पर अप्राणिकृत कार्यों का भी कोई कर्ता अवश्य सिद्ध होता है। कारण, सिद्धकोटि के जितने भी दृष्टान्त हैं, सभी कर्तापूर्वक ही है। अतः जैसे प्राणिकृत क्रिया कर्ता से होती है, वैसे ही अप्राणिकृत क्रिया भी कर्त्ता से ही सिद्ध होती है। प्राणिकृत, अप्राणिकृत क्रिया से भिन्न कोई क्रिया है ही नहीं। यदि बिना घड़ीसाज के घड़ी नहीं बन सकती, बिना बढ़ई मेज नहीं बन सकती तो यह भी मानना ही चाहिये कि बिना चेतनसत्ता चन्द्र, सूर्य, पहाड़, नदियाँ आदि भी नहीं बन सकतीं।

कई लोग **'क्षित्यङ्कुरादिकं कार्यत्वाद् घटवत्'**—पृथ्वी, वृक्ष आदि सकर्तृक हैं, कार्य होने से, घटादि के तुल्य—इस अनुमान में शरीर—जन्यत्वरूप उपाधिदोष बतलाते हैं। अर्थात् जहाँ जहाँ शरीरजन्यता होती है, वहाँ-वहाँ सकर्तृकता होती है। घटादि शरीरजन्य हैं, अतः

सकर्तृक है' पर कार्यत्व तो पृथ्वी अङ्कुरादि में भी होता है, पर वहाँ शरीरजन्यता नहीं है साध्य-व्यापक, साधनाव्यापक धर्म को ही उपाधि कहा जाता है। इस तरह उनके मतानुसार कार्यत्वहेतु सोपाधिक होने से साध्यसिद्धि में समर्थ नहीं होगा। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि उपाधि के द्वारा या तो व्यक्ति व्यभिचारका अनुमान होता है या पक्ष में उपाध्यभाव से साध्याभाव का अनुमान होता है। तभी प्रकृत अनुमान दूषित समझा जाता है। इस तरह यहाँ पर शरीराजन्यत्वरूप उपाध्यभाव से सकर्तृकत्वाभावका अुमान करना पड़ेगा। परन्तु उसमें शरीर विशेषण व्यर्थ ही है। पृथ्वी, वृक्ष आदि शरीरराजन्यता होने पर भी अजन्यता नहीं है। अत: अजन्यता होने से सकर्तृकत्वाभाव नहीं सिद्ध हो सकता। सुतरां कार्यत्वरूप हेतु से पृथ्वी-वृक्षादि में सकर्तृकत्वसिद्धि निर्बाध है।

कई लोग पौर्वापर्य को ही कार्यकारणभाव के स्थान पर बिठलाते हैं। उनके अनुसार सदा पूर्व में रहने वाला कारण और सदा पश्चात् होने वाला कार्य है; परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि अन्धकार सदा सूर्योदय के पूर्व होता है, तो भी अन्धकार सूर्योदय का कारण नहीं माना जाता, रविवार से पूर्व सदा शनिवार रहता है, फिर भी वह रविवारका कारण नहीं होता। कार्य कारण से पीछे होता है, इतना ही नहीं, किन्तु कारण के द्वारा होता है। तर्कसंग्रहकारकी दृष्टि से उपादानगोचरापरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा एवं कृतिवाला चेतन ही कर्ता होता है, जैसे घट का निमित्त कारण कुलाल है, वही घट का कर्त्ता है। उसे घटके उपादानकारण मृत्तिका का अपरोक्ष निकटतम ज्ञान है, उसकी चिकीर्षा है, घटनिर्माण की इच्छा है और उसमें घट बनाने का प्रयत्न है बिना ज्ञान के इच्छा और बिना इच्छा के कृति नहीं हो सकती। इस तरह 'जानाति इच्छति अथ करोति' किसी चीज को प्राणी पहले जानता है, फिर इच्छा करता है और फिर तद्विषयक प्रयत्न करता है। इस तरह ज्ञान, इच्छा और कृति जहाँ होती है, वही कर्त्ता होता है। अत: भले ही घट से मिट्टी गिरती हो फिर भी वह मिट्टी गिरने का कारण नहीं समझा जाता। प्रत्येक कार्य को कर्त्ता की अपेक्षा होती है, ये नियम सभी के



मस्तिष्क पर शासन करते हैं। अत: जहाँ किसी कार्य में प्रत्यक्ष ज्ञान एवं इच्छा का सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता वहाँ प्राणी अदृष्ट इच्छाशक्ति की कल्पना करता है। किसी पुल या किला को देखकर प्राणी यह अवश्य सोचता है कि किसी ने अपनी ज्ञानेच्छा तथा कृति से इसे बनाया है इसी तरह एक प्रफुल्लित कमल को भी देखकर बुद्धिमान अवश्य सोचता है कि यह इतनी सुन्दर वस्तु बिना किसी की इच्छाकृति के कैसे सम्पन्न हो सकती है? बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, इस दृष्टि से सृष्टि का भी कारण होना अनिवार्य है। अत: सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की ज्ञानेच्छा-कृति से ही सृष्टि की रचना उचित है।

कई लोग सृष्टिको आकस्मिक कहते हैं, परन्तु वस्तुत: बिना हेतु के कोई भी घटना कभी हो ही नहीं सकती। यदि विभिन्न शक्तियों द्वारा होने वाले कार्यों के आकस्मिक सम्बन्धमात्रको आकस्मिक कहा जाय, जैसा कि काकतालीन्याय कहलाता है। (काकका वृक्षपर बैठना—काकके प्रयत्न का फल है, तालफलका पतन अपने कारणों से सम्पन्न हुआ, परन्तु दोनों का मेल आकस्मिक हो गया) तो इस पक्ष में निर्हेतुक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, भले सृष्टिकी विभिन्न घटनाओं का मेल कभी आकस्मिक भी हो, तो भी सृष्टिका कोई कार्य निर्हेतुक नहीं सिद्ध होता।

वस्तुतस्तु मन से भी अचिन्त्य रचनारूप संसारका निर्माण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन कर्त्ता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता और उस सर्वज्ञ का कोई भी कार्य असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग स्वयम्भू प्रकृति या उसके परमाणुओं से ही विश्व का निर्माण मानते हैं, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर की ज्ञप्ति, इच्छा एवं कृति के बिना प्रकृति या परमाणुओं से संसार का निर्माण कैसे हो सकता है? बिना बुद्धि-प्रबन्ध के परमाणु अपने-आप इतने विलक्षण संसार को बना सकते हैं, इससे बढ़कर युक्तिशून्य कोई बात हो नहीं सकती। किसी नास्तिक पिता से जब आस्तिक पुत्र ने कहा कि

जो संसार को बनाने वाला है, वही परमेश्वर है, तो पिता ने कहा कि परमाणुओं को अपने आप ही एकत्रित हो जाने से संसार बन जाता है। इसके लिये कोई सर्वज्ञ ईश्वर क्यों माना जाय? दूसरे दिन पुत्र ने बहुत सुन्दर हस्ती, अश्व, शुक, पिक, मयूरों, के चित्र बनाकर उसके सामने कुछ विभिन्न रङ्ग की पेन्सिलें रख दीं। जब पिता ने चित्रों का निर्माता पूछा तो पुत्र ने कहा कि इन्हीं पेन्सिलों के परमाणु उड़-उड़कर कागज पर एकत्रित हो गये, उन्हीं से ये चित्र बन गये। पर पिता ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब पिता से पुत्र ने कहा कि यदि परमाणुओं के उड़-उड़कर एकत्रित हो जाने पर ऐसे चित्र भी नहीं बन सकते तो चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डल, भूधर, सागर, मनुष्य, पशु आदि विलक्षण वस्तुएँ बुद्धि के सहयोग बिना केवल परमाणुओं से कैसे बन सकती है। अतएव ऐसे-ऐसे अनुमान ईश्वर-सिद्धि में उपस्थित किये जा सकते हैं।

(१) संसार का व्यवस्थित रूप देखकर अनुमान किया जा सकता है कि जगत् की व्यवस्था प्रशास्तृपूर्विका है, व्यवस्था होने के कारण, राज्य-व्यवस्था के समान।

(२) लोकोपकारी सूर्य चन्द्रादिका निर्माण किसी विशिष्ट विज्ञानवान् के द्वारा ही हो सकता है। यद्यपिर आजकल लोग सूर्य-चन्द्रादिको ईश्वरनिर्मित न मानकर स्वत: सिद्ध या प्रकृतिनिर्मित मानते है; परन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि दीपकादि बुद्धिमान् चेतन द्वारा ही बनाये जाते हैं। यह दृष्टान्त वादी-प्रतिवादी उभयसम्मत है, परन्तु कोई वस्तु स्वत:सिद्ध है— इसमें उभय-सम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है; क्योंकि ईश्वरवादी सभी पदार्थों को ईश्वरकर्तृक मानता है। प्रकृति भी जड़ होने से स्वतन्त्रकर्त्री नहीं हो सकती। अत: सूर्य, चन्द्र किसी विशिष्ट विज्ञानवान् के द्वारा निर्मित हैं, प्रकाश होने के कारण, प्रदीप के समान। जैसे व्यवहार के लिये दीपक होता है, वैसे ही सूर्य-चन्द्रादि भी व्यवहारोपयोगी हैं।

(३) सूर्य-चन्द्रकी विशिष्ट चेष्टा देखकर भी इसी तरह उनके



चेष्टावाले होने के कारण, भृत्यादि के समान। जैसे भृत्य की नियमित प्रवृत्ति होती है, वैसे ही सूर्य-चन्द्रादि की भी नियन्त्रित होने के कारण ही सूर्य-चन्द्र स्वयं ईश्वर और स्वतन्त्र होते हुए भी उदयास्तमय एवं वृद्धि-क्षय से युक्त होकर प्रकाशादिकार्य में संलग्न रहते हैं।

(४) पृथिवी के विधारक के रूप में भी प्रयत्नवान् ईश्वर सिद्धि होती है। विवादास्पद पृथिवी प्रयत्नवान् के द्वारा विधृत है, सावयव, गुरु, संयुक्त होने पर भी अस्फुटित, अपतित, अवियुक्त होने के कारण, हस्तन्यस्त पाषाणादि के समान। यदि किसी चेतन से धारण न हो तो उसमें पतन स्फुटन होना अनिवार्य होता, बिना किसी धारकके कोई भी गुरु पदार्थ टिक नहीं सकता। परस्पराकर्षण से भी स्थिति असम्भव है; क्योंकि स्थिति और ज्ञप्ति अन्योन्याश्रित नहीं होती।

कहा जाता है, मानवी मस्तिष्क की सहायता बिना भी यदि कोई अंग्रेजी भाषा के अक्षरों को उछालता रहे तो कभी शेक्सपीयर का नाटक निर्मित हो सकता है। यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय तो भी संसार के विलक्षण प्रबन्ध का विधान बिना सर्वज्ञबुद्धि के नहीं हो सकता। भले ही किन्हीं अक्षरों को अनन्त बार उछालो, परन्तु उनके द्वारा विचार व्यक्त हो सकना असम्भव ही है। विचार व्यक्त करने की बात तो दूर रही, सही-सही एक पंक्ति का भी निर्माण असम्भव है। फिर अक्षरों को उछालनेवाला भी कोई चेतन ही होता है। फिर बिना चेतन के जड-परमाणुओं से विश्व का निर्माण कहां तक सम्भव है? फिर क्या आज तक कोई अक्षरों को उछाल-उछाल कर किसी छोटे से ग्रन्थ का भी निर्माण कर सका? संसार में रोटी बनाने से लेकर मकान, पुल, दुर्ग आदि का निर्माण बिना बुद्धि के अपने-आप ही ईट, चूना, पत्थर, लोहा-लक्कड़ आदि कर लेते हों, यह नहीं देखा जाता। फिर अकस्मात् ही परमाणुओं का निर्माण और अकस्मात् ही परमाणुओं का निष्क्रिय हो जाना या संसार का नष्ट हो जाना आदि कैसे संगत होगा? फिर यदि परमाणुओं के बिना सर्वज्ञ चेतन के प्रयत्न से अपने-आप ही सूर्य, समुद्र, नदी, पर्वत बन सकते हैं, तब अन्य उपयोग दुर्ग, पुल गृहादि का निर्माण भी उसी तरह क्यों नहीं होता?

तदर्थ मनुष्यों को प्रयत्न क्यों करना पड़ता है। यदि पहाड़ अकस्मात् बन सकता है, तब कोई पुल या किला अपने-आप क्यों नहीं बन सकता? स्वभाववादी स्वभाव से ही सृष्टि का निर्माण मानता है, परन्तु स्वभाव यदि शक्तिशाली कोई चेतन है तब तो नाममात्र का ही भेद हुआ। यदि सृष्टि-नियम से ही संसार का निर्माण माना जाय तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि नियम के निर्माता प्रयोक्ता बिना नियम अकिंचित्कर ही होता है। भूगर्भतत्त्ववेत्ता पुरानी वस्तुओं को देखकर बुद्धिमानों की कारीगरी का अनुमान करते हैं। मोहनजोदड़ों, हरप्पा की खुदाई में मिलनेवाली वस्तुओं के आधार पर सभ्यता की कल्पना की जाती है। यदि सब वस्तुएँ स्वभाव से ही बनती हैं, तब उन कल्पनाओं का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

वस्तुत: किसी प्रकार के नियम ही सिद्ध करते हैं कि कोई समझदार पूर्वापरदर्शी बुद्धिमान् ही नियम बनाता है और वही नियामक भी है। नियामक बिना नियमों का कुछ मूल्य भी नहीं होता। अत: नियमों के रहते हुए भी ज्ञानयुक्त, उपयुक्त चुनाव से ही सुप्रबन्ध होता है। मिट्टी जलादि से घट बनने का नियम है सही, पर जब तक कोई कुम्भकार नियमों के अनुसार कार्य नहीं करेगा तबतक घट निर्माण असम्भव ही है। धरणि, अनिल, जल के संयोग से बीजों के अङ्कुरित होने का नियम है तथापि जबतक किसान उन नियमों का प्रयोग करके काम नहीं करेगा तबतक गेहूँ-यवादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति भले ही प्रत्येक परमाणु पर शासन करती रहे तथापि सहयोग एवं सुदृढ़ता के साथ के प्रबन्ध बिना उनका कोई भी सदुपयोग नहीं हो सकता।

आस्तिकों का कहना है कि जिसने हंस के अङ्ग में शुल्करंग का निर्माण किया, शुक के अङ्ग का हरा रंग बनाया, मयूरों को चित्रित किया और फूलों पर बैठनेवाली तितलियों को चमकीली साड़ी बनाकर पहनाया—वही ईश्वर है। वही सबकी वृत्ति देता है—

**येन शुक्लीकृताः हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।**
**मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति।।**

(हितोपदेश १।१७९)



परन्तु स्वभाववादियों का कहना है कि—

**शिखिनश्चित्रयेत्को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्?**
**स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्।।**

(चार्वाकदर्शन)

'मयूरों को कौन चित्रित करता है? कोकिलों को कौन मधुरालाप सिखाता है? जैसे अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता, वायु में वहनशीलता स्वभाव से ही होती है, उसी तरह स्वभाव से शुक, हंसादि के रंग तथा मयूरादि का चित्रण होता है।' परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि यदि परमाणुओं का स्वभाव सृष्टि रचना है, तब कभी सृष्टि-विघटन नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाय कि किन्हीं का स्वभाव मिलने का है, किन्हीं का विघटन का है, तो भी जैसे परमाणुओं का बाहुल्य होगा, तदनुकूल ही काम भी होगा। परन्तु जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय भी यथा समय होता है। यह सब बिना सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के नहीं हो सकता। स्वभाव आदि असत् हैं, तो उसमें कार्यकरण क्षमता नहीं हो सकती। यदि सत् है तो भी चेतन है या अचेतन। यदि चेतन है तो नामान्तर से ईश्वर ही हुआ। यदि अचेतन है तो उसमें भी विलक्षण कार्यकारिता नहीं हो सकती। अचेतन वस्तु स्वत: कोई कार्य नहीं कर सकती। यदि चेतन के सहारे कोई कार्य कर सके तो भी एक ही प्रकार का कार्य कर सकेगी। चेतन में ही यह स्वतन्त्रता होती है कि वह कार्य करे, न करे, अन्यथा करे। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु जो समर्थ होता है वही कर्त्ता होता है। घड़ी की सूई स्वयं नहीं चल सकती। जब चेतन घड़ीसाज के प्रयत्न से सुई स्वयं आगे-पीछे चलने न चलने, बन्द होने और फिर चल पड़ने में स्वतन्त्र नहीं। संसार में भिन्न-भिन्न स्वभाव की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। परन्तु वे सब अपने-आप स्वभावत: भिन्न पदार्थों का निर्माण नहीं करते। अग्नि, लकड़ी, पानी, चीनी, आटा, घी, मिर्च आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ भिन्न स्वभाव के हैं। सब मिलकर स्वयं पक्वान्न नहीं बना सकते। वहाँ किसी चेतन की अपेक्षा होती है। इसी तरह

बिना किसी सर्वज्ञ चेतन के नारंगी, संतरे तथा आम्र का फल, गुलाब का मनोरम पुष्प अवश्य पंञ्चभूतों का ही परिणाम है। फिर भी अपने आप पृथ्वी, जल, तेज मिलकर कई पुष्प या फल के रूप में स्वयं परिणत हो जाते हों, यह न देखा ही जाता है न सम्भव ही है। किन्तु कोई कार्य प्राणियों द्वारा सम्पन्न होते हैं तो कोई सर्वज्ञ चेतन ईश्वर के द्वारा। विज्ञान के अनुसार 'स्वाभाविक शक्तियों के द्वारा प्रपञ्च-निर्माण का आरम्भ या द्रव द्रव्य का गाढ़ा होकर पृथ्वी बनाना आदि बिना किसी चेतन की इच्छा और कृति के सम्भव नहीं हो सकता।' मान लिया अग्नि और जल इंजिन में पहुँचकर अदभुत काम करने लगता हैं, परन्तु इंजिन बनाकर उनमें डालकर भाप द्वारा विभिन्न कार्य करने का प्रबन्ध बिना चेतन के सम्पन्न नहीं होता। डार्विन, हक्सले, हैकल, लेमार्क आदि के विकास सम्बन्धी विचार पर इसके पहले पर्याप्त समालोचना हो चुकी है। आल्फ्रेड रसेलवालेस वैज्ञानिक डार्विन का एक मुख्य सहयोगी था। डार्विन के पश्चात् भी वह विकासवाद का ही पोषक रहा। उसने अपने अर्ध शताब्दी के अन्वेषण के पश्चात् 'दी वर्ल्ड ऑफ लाइफ' पुस्तक की भुमिका मे लिखा है कि 'मैंने उन मौलिक नियमों की सरल तथा गम्भीर परीक्षा की है, जिनको डार्विन ने अपने अधिकार के बाहर समझकर जान बूझकर अपने ग्रन्थी में नहीं लिखा। जीवन क्या हैं, उसके कौन-कौन कारण हैं,और विशेषकर जीवन में बृद्धि और संतानोत्पत्ति की जो विचित्र शक्तिया है, उनका क्या कारण हैं? मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि इन पक्षियों, कीड़ों के रंग आदि से पहले तो एक उत्पादक शक्ति का परिचय होता है, जिसने प्रकृति को इस प्रकार बनाया कि जिससे आश्चर्यजनक घटनाएँ सम्भव होती हैं। दूसरे एक संचालक बुद्धि भी मालूम पड़ती है जो वृद्धि की प्रत्येक अवस्था में आवश्यक होती हैं। विकासवादी ग्रन्थों से भिन्न-भिन्न पौधों और कीट-पतंग आदि के शरीरों की बनावट उनके स्वभाव, उनकी रीतियों की जानकारी



होती है। डर्विन के पुत्र प्रोफेसर जार्ज डार्विन ने १६ अगस्त सन् १९०५ को कहा था कि जीवन का रहस्य अब भी उतना ही निगूढ़ है जितना कि पहले था। प्रो० पैट्रिक गेडीस ने कहा है कि हम नहीं जानते कि मनुष्य कहाँ से आया कैसै आया? यह मान लेना चाहिये कि मनुष्य-विकास के प्रमाण संदिग्ध हैं, साइंस में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। ९ जून १९०५ में विकासवदियों के वाद-विवाद के सम्बन्ध में 'टाइम्स' ने लिखा था कि 'ऐसी गड़बड़ी पहले कभी नहीं देखी गयी'। तमाशा यह कि लोग अपने को विज्ञान का प्रतिनिधि बताते हैं। यद्यपि कुछ लोग दो एक बातों में सहमत थे; पर कोई एक बात भी ऐसी नहीं जिसमें सब सहमत हों। विकासवाद के सम्बन्ध में युद्ध करते हुए उन्होंने इसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। कुछ भी शेष नहीं रहा। केवल युद्ध क्षेत्र में कुछ टुकड़े इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

मनुष्य की बंदर से उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर जे० डब्ल्यू० डौसन कहते हैं 'बंदर और मनुष्य के बीच की आकृति का विज्ञान को कुछ पता नहीं है मनु्य की प्राचीनतम अस्थियाँ भी मनुष्यकी सी हैं। इनसे उस विकास का कुछ भी पता नहीं लगता, जो मनुष्य शरीर के पहले हुआ है। प्रौफेसर औवेन का कहना है कि मनुष्य अपने प्रकार की एकमात्र जाति है और अपनी जाति का एकमात्र प्रतिनिधि है। सिडनी कौलेट ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मनुष्य उन्नति के बदले अवनति की ओर जा रहा है। सर जे० डब्ल्यू० डौसन ने लिखा है कि 'मनुष्य की आदिम अवस्था सबसे उच्च थी।'

कुछ भी हो, साइंस के आधार पर एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता। संसार में अनेक प्रकार के नियम उपलब्ध होते हैं। उन्हीं का अनुसरण करके प्राणी अपना-अपना काम चलाते हैं। नियमों का निर्माता एवं पालक ईश्वर है। अन्य प्राणी नियमों के अनुचर हैं। जो वस्तुएँ बिना विज्ञान के ही नियमपराधीन हैं। परन्तु चेतन

उन नियमों को चुनकर उनके अनुसार काम करता है। जैसे खेती का नियम पालन करने से गेहुँ, जौ पैदा किया जा सकता है। वायुयान बनाने का नियम पालन करने से वायुयान बनाया जा सकता है; परन्तु काष्ठादि नियमों का चुनाव नहीं कर सकते। नियमों का संचालन करने वाली शक्ति ईश्वर ही है, उसका प्रभाव सृष्टि में व्यापक है।

नैयायिक, वैशेषिक आदि ईश्वर को निमित्तकारण मानते हैं। परन्तु नैयायिक आदि तो जीवात्माओं को व्यापक ही मानते हैं। आधुनिक कुछ लोग शंका करते हैं कि निमित्तकारण या कर्त्ता किसी कार्य में व्यापक नहीं रहता। घड़ीसाज घड़ी में व्यापक नहीं होता, मकान बनाने वाला मकान में और कोट-पतलून बनाने वाला दर्जी कोट-पतलून में भी व्यापक नहीं होता; फिर यदि परमात्मा संसार का निमित्त कारण है तो वह सम्पूर्ण कार्य में कैसे व्यपाक हो सकता है? उसका आधुनिक ढंग के लोग समाधान करते हैं कि लौकिक क्रियाओ का कुलाल आदि निमित्त कारण अवश्य हैं, परन्तु वह एक हद तक ही हैं; जैसे घड़ी साज ने घड़ी अवश्य बनाया, परन्तु लोहे के परमाणुओं को जोड़कर रखना घड़डीसाज के हाथ की बात नहीं है। उसका निमित्त कारण ईश्वर ही होता है। संसार में व्यापक अणु-अणु, परमाणु-परमाणु की जो क्रियाएँ हैं, वे बहुत सूक्ष्म हैं। वे व्यापक ईश्वर के बिना उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अत: ईश्वरको व्यापक मानना उचित ही है, पन्तु वेदान्ती तो ईश्वर को ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। सचमुच निमित्त कारण का कार्य में व्यापक होना तर्कसङ्गत नहीं है। यदि निमित्तत्व व्यापकता का प्रयोजक हो तो कुलालादि में भी व्यापकता होनी ही चाहिए, परन्तु यह दृष्टविरुद्ध है। भले ही परमाणुसंयोग आदि में कुलाल, घड़ी-साज आदि निमित्तकारण न हों फिर भी जिस कार्य में जितने अंश में जो निमित्त कारण हो उतने अंश में तो उसे उस कार्य में व्यापक होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त निरवयव एवं व्यापक में क्या हलचल रूप क्रिया सम्भव हो सकती है? यदि नहीं तो व्यापक ईश्वर किस तरह



क्रियावान् हो सकेगा? इस दृष्टि से वेदान्ती का ही मत श्रेष्ठ है। मायाशक्ति द्वारा ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर माया, परिणाम-संकल्प के द्वारा ही विश्व का निर्माता होता है। वही तम:प्रधाना प्रकृति से विशिष्ट होकर उपादान कारण भी है, अत: व्यापक है। यह भी कहा जाता है कि यदि ईश्वर व्यापक न होता तो उसे सम्राट् आदि के समान अन्य सत्ताओं से काम लेना पड़ता और जैसे सम्राट् का कर्मचारियों के मस्तिष्क पर जब नियन्त्रण नहीं होता तो वे कभी गड़बड़ भी करते हैं, इसी तरह ईश्वर के कर्मचारी भी ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कार्य कर सकते हैं, किन्तु ऐसा होता नहीं, अत: ईश्वर व्यापक है। सब पर उसका नियन्त्रण है। सब कार्य उसकी इच्छा के अनुसार ही होते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर की सत्ता से भिन्न जीवों द्वारा अनेक कार्य होते है। भले ही ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, फिर भी जीवों को अपनी इच्छानुसार शुभाशुभ कर्म करने की स्वतन्त्रता है। तभी उन्हें अपने किये कामों का फल भोगना पड़ता है। यदि जीव किसी अन्य के परवश होकर ही कर्म करते होते तो उन्हें उन कर्मों का फल भोगने के लिये बाध्य नहीं होना पड़ता। व्यापकता का मूल उपादानत्व ही है, निमित्तत्व नहीं। जैसे मकड़ी जाला का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है, उसी तरह ईश्वर ही प्रपञ्च-सृष्टि का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वह ईश्वर निराकार ही हो सकता है, साकार नहीं। उनके अनुसार 'जिसे आँख से देख सकते हैं, हाथ से छू सकते हैं, वह साकार है, जो ऐसा नहीं वह निराकार है।' वे कहते हैं कि 'सृष्टि में दोनों प्रकार की वस्तुएँ होती हैं, **'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च'**— एक साकार, दूसरा निराकार।' परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि उपर्युक्त श्रुति यही कहती है कि ब्रह्म के दो रूप हैं। एक मूर्त अर्थात् साकार और दूसरा अमूर्त अर्थात् निराकार। कहा जाता है कि 'यदि ईश्वर आकाश की तरह निराकार है, तब तो वह व्यापक हो सकता है; किन्तु यदि वह साकार

(स्थूल) है तो सूक्ष्म में कैसे व्यापक होगा? सर्वव्यापक न होने से सर्वकारण भी नहीं हो सकेगा। फिर ईश्वर ही नहीं सिद्ध हो सकेगा। ईश्वर साकार होता तो अवश्य दीखता। ईश्वर की अति सूक्ष्म सत्ता हो तभी उसका नियन्त्रण सूक्ष्म नियमों पर हो सकता है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे जीव सूक्ष्म होते हुए भी आकार ग्रहण कर साकार हो जाता है, इसी तरह ईश्वर सूक्ष्म निराकार होते हुए भी माया से दिव्य गुणसम्पन्न ज्योतिर्मय आकार बनाकर साकार हो सकता है। सूक्ष्मरूप से सर्वकारण सर्वव्यापक होने पर भी माया शक्ति से ईश्वर साकार भी होता है। उसी का हिरण्मय, ज्योतिर्मय आदि रूप उपनिषदों में वर्णित है। ईश्वर का ज्योतिर्मय आकार होने पर भी वह आकार दिव्य है। अत: सामान्य चर्मचक्षु को उसका दर्शन भले ही न हो परन्तु उपासना और तपस्या के द्वारा दिव्यदृष्टिसम्पन्न लोगों को उसका दर्शन आज भी होता है और हो सकता है। विष्णु, शिव आदि उसी के रूप हैं। जो ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्ड का निर्माण कर सकता है, अनन्त निराकार एवं सूक्ष्म जीवों को अनन्त देह देकर साकार बना देता है, वह क्या अपने लिये दिव्य देह का निर्माण नहीं कर सकता? और साकार नहीं बन सकता? वस्तुत: जैसे निराकार अग्नि भी साकार हो सकती है, जैसे स्पर्शादिविहीन आकाश ही स्पर्शादियुक्त तेज जलादि रूप में प्रकट हो सकता है, वैसे ही निराकार परमेश्वर आकार ग्रहणकर साकार हो सकता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की मायाकृत साकारता होने पर भी उसकी निराकरता, सूक्ष्मता, व्यापकता एवं सर्वकारणता में कोई अन्तर नहीं आता।

कहा जाता है, संसार में जितनी साकार वस्तुएँ हैं, वे सब परमाणुओं के संयोग से ही बनती हैं; किन्तु यह बात केवल आरम्भवाद में ही है, परिणामवाद के लिये यह आवश्यक नहीं। परिणामवाद में जैसे दुग्ध का ही दधिभाव होता है, मृत्तिका का घटभाव होता है, वैसे ही प्रकृति का ही अन्यथाभाव परिणाम होता है। वहाँ तो यही कहा जा सकता है कि सूक्ष्म एवं व्यापक वस्तु ही स्थूल एवं व्याप्य भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में परिणत होती है। विवर्तवाद में सूक्ष्मतम ब्रह्म का ही अतात्विक अन्यथाभावरूप विवर्त सम्पूर्ण प्रपञ्च है। किन्तु किसी भी पक्ष में ईश्वर के साकार होने में कोई आपत्ति नहीं होती। सर्वसम्मति से जीवात्मा व्यापक हो या अणु, पर हैं निराकार ही। साकार रूप धारण करने से वह साकार होता है। यही बात ज्यों-की त्यों ईश्वर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भेद इतना ही है कि जीव इन सब बातों में कर्मपरतन्त्र है, ईश्वर स्वतन्त्र है। साकार होने का यह कदापि अर्थ नहीं कि कूटस्थ ईश्वर विकृत होकर अपनी निराकारता, सूक्ष्मता, व्यापकता को खोकर साकाररूप में परिणत हो जाता है। इसीलिए भावका परमाण बादल बन जाय या बादल का परमाणु जल बन जाय इत्यादि दृष्टान्तों के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। संसार में विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न शक्तिवाली होती हैं। चींटी, सिंह, हाथी, विभिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न शक्ति रखते हैं। जो सब पर नियन्त्रण रखता है तथा सर्वशक्तिवाला है, वही ईश्वर है। भिन्न कारणों में अपने-अपने कार्यों की उत्पादनानुकूल शक्तियाँ होती हैं। ईश्वर सर्वकारण है, अत: उसमें सर्वकार्योत्पादनानुकूल शक्तियाँ हैं; इसीलिए वह सर्वशक्तिमान् है। बहुत लोग कुतर्क करते हैं कि यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो क्या वह अपने आपको नष्ट कर सकता है? दूसरा ईश्वर बना सकता है? वेश्या को कुमारी बना सकता है? परन्तु यह सर्वशक्तिमत्ता का अभिप्राय कदापि नहीं हैं। शक्ति शक्य में ही होती है। स्वरूप के अविरुद्ध ही शक्तियाँ होती हैं। वह्नि में दाहिका शक्ति होती है; परन्तु वह शक्ति काष्ठादि दाह्य का ही दहन करती है। अदाह्य आकाशादि का दहन नहीं कर सकती। इतने पर भी अग्नि के सर्वदाहकत्व में कोई बाधा नहीं आती। इसी तरह यदि नित्यस्वरूप को नष्ट न कर सके तो इतने से ही ईश्वर के सर्वशक्तिमत्त्व में बाधा नहीं पड़ सकती। इसी तरह नित्य अनाद्यनन्त सर्वशक्तिमान् अन्य ईश्वर का निर्माण भी अशक्य है। वेश्या को उस जन्म में नहीं तो जन्मान्तर में कुमारी बना ही सकता है।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से परमेश्वर सर्वप्रपञ्च का उपादान कारण है,

अतएव वह सर्वशक्तिमान् है। उपादान कारणों में कार्यानुकूल शक्तियाँ होती है। मृत्तिका में घटोत्पादनानुकूल शक्ति, तन्तु में पटोत्पादनानुकूल शक्ति, दुग्ध में नवनीतोत्पादनानुकूल शक्ति होती है इस दृष्टि से सर्वकारण में सर्वोत्पादनानुकूल शक्ति होती है। जो वस्तु प्रमाण सिद्ध है, उसी के उत्पादनानुकूल शक्ति कारण में हो सकती है। खपुष्प, शशशृङ्ग आदि असत्पदार्थ प्रमाणसिद्ध ही नहीं हैं, अतः तदुत्पादनानुकूल शक्ति की कल्पना ईश्वर में नहीं की जा सकती। सर्वकारण एवं सर्वाधिष्ठान होने के कारण चेतन ब्रह्म ईश्वर ही निरावरण होकर अपने में अव्यस्त सब प्रपञ्च का भासक होता है; इसीलिये ईश्वर सर्वज्ञ है। सर्व का चेतन के साथ आध्यासिक ही सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध से चेतन द्वारा सर्वप्रपञ्च का ज्ञान हो सकता है। इसीलिए सामान्य रूप से विशेषरूप से सर्वप्रपञ्च को जाननेवाला ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है, अनन्त ब्रह्माण्ड एवं एक-एक ब्रह्माण्ड के अनन्त जीव तथा एक-एक जीव के अनन्त जन्म, एक-एक जन्म के अनन्तानन्त कर्म एवं अपरिगणित कर्म-फलों को जाननेवाला और विभिन्न ब्रह्माण्डों के जीवों के कर्म-फलों को दे सकने की क्षमता रखनेवाला ही ईश्वर है। इउसीलिये ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। अनादि जीवों के कल्याण के लिये ही उसकी सृष्टिनिर्माण में प्रवृत्ति होती है। इसीलिये वह हितकारी भी कहा जाता है। समस्त प्राणियों के लौकिक-पार-लौकिक कल्याण के लिए उसके निःश्वासभूत वेदों के द्वारा सबको उपदेश मिलता है—

**सहृदयं सामनस्यमविद्वेषम् कृणोमि वः।**
**अन्यो अन्यमभिहर्यतवत्सं जातभिवाघ्न्या।।**

(अथर्ववेद ३।३०।१)

जैसे गौ उत्पन्न बछड़ों से प्रेम करती तथा उनका हित चाहती है, वैसे ही ईश्वर भी सबको सामान हृदय एवं शोभन हृदय तथा विद्वेषरहित



अन्योन्य उपकारक बनाना चाहता है।

## ईश्वर के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों के विचार

मार्क्सवादी हिन्दू-दर्शन एवं भौतिकवाद की तुलना करते हुए कहते हैं कि 'हिन्दू-दर्शन ग्रन्थादि किसी एक ही मत के परिपोषक नहीं हैं। भौतिकवाद के उल्लेखमात्र से चार्वाक का नाम याद आता है। लेकिन चार्वाक से बहुत पहले इसका वर्णन उपनिषदों में मिलता है कि सृष्टि का मूल क्या है? आकाश। सब सृष्टि पदार्थ आकाश से ही उत्पन्न होते हैं तथा इसी में विलीन होते हैं—**'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तयन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।'** (छन्दों० उप० १।९।१)

जिसकी आकाश कहते हैं, वह सब नाम रूपों का द्योतक है।—

**आकाशो वै नाम नामरुपयोर्निर्वहिता।**

(छान्दोग्य उपनिषद् ८।१४।१)

इसी उपनिषद् में ब्रह्म का भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म नहीं है और यही सृष्टि का भौतिक कारण है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का अग्नि वह स्वयम्भू है, जिससे भूतमात्र की उत्पत्ति है। वह अग्नि भी ब्रह्म नहीं है।

**एको हंसो भुवनास्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।**
**स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारी गुणी सर्वविद्यः।।**

(६।१५-१६)

कहना न होगा कि कई मार्क्सवादियों ने भारतीय दर्शनों का भौतिकवाद से मेल मिलाया है; किन्तु अधूरे ज्ञान के कारण वे सदा ही अर्थ का अनर्थ ही करते हैं। वस्तुतः उपनिषदों में जहाँ सृष्टि का मूल 'आकाश' कहा गया है वहाँ 'आकाश' शब्द का अर्थ है 'ब्रह्म'। **'आ समन्तात् काशते–प्रकाशते इत्याकाशः'** प्रकाशमान अखण्ड बोधरूप परब्रह्म ही आकाश शब्दार्थ है। अतएव ब्रह्मसूत्र में कहा गया है—

''**आकाशस्तल्लिङ्गात्**' (वेदान्तद् १/१/२२)— आकाश पदार्थ परमात्मा है; क्योंकि जगदुत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-कारणतारूप लक्षण उस ब्रह्म में ही घटता है; भूताकाश में नहीं। क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में आकाशादि भूतों की उत्पत्ति ब्रह्म से कही गयी है, **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**' (तै० उ० २/१) उस अपरोक्ष आत्मा से आकाश की उत्पत्ति होती है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते............तद् ब्रह्म।' (तै० उ० ३/१) जिस परमात्मा से सब भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है। जो आकाश नाम रूप का निर्वाहक है, वह आकाश भी वही ब्रह्म है। (देखिये, छा० ८/१४/१ शंकरभाष्य) श्वेताश्वतर का अग्नि हिरण्यगर्भ है, साधारण जड़ अग्नि नहीं—'**एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणामपरे ब्रह्मे शाश्वतम्।।** (मनु० १२।२३) इसी हिरण्यगर्भ को कोई अग्नि कहते हैं, कोई इन्द्र, कोई प्राण, कोई सनातन ब्रह्म और कोई प्रजापति कहते हैं।

**'इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।'**
(ऋ० २३।२२।६, अथर्व० ९।१०।२८, निरुक्त ७।४।५।१८)

आदि स्थलों में एक परमात्मा को ही भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है।

मार्क्सवादी कहते हैं—वर्तमानकाल में वेदान्त-दर्शन का मायावाद ही जनप्रिय है यह एक आदर्शवादी दर्शन है, जिसके अनुसार निर्विकार निराकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह ब्रह्म हीगेल के निर्विशेष मानस (**Absolute Idea**) से मिलता-जुलता है। निर्विशेष मानस जैसे विशेष के भीतर विकसित होता है। वेदान्त के ब्रह्म कल्पना भी वैसी ही है। ब्रह्म अपने को विभक्त कर माया के रूप में प्रदर्शित करता है। ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति है 'बृह धातु स, जिसका अर्त हैं वर्द्धित होना। इस वर्द्धित होने और हीगेल के स्वयंगतिविवर्तन (**Becoming**) का सादृश्य स्पष्ट है मायावादी दर्शन की



असंगति को दूर करने के लिये गौडपाद आदि दार्शनिकों ने ब्रह्म या आत्मा को मूल में रखकर भूत-जगत् को उसका फलस्वरूप बतलाया और इस प्रकार सत्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रखा। वेदान्त-दर्शन बहुल प्रचार होने पर भी हिंदू-दर्शन केवल मात्र वेदान्त ही नहीं है न्याय और मीमांसा-दर्शन भी चार्वाकदर्शन की तरह प्रमाण एवं सापेक्ष ज्ञान में विश्वास रखते हैं। बौद्ध सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन भी इसी के अनुरूप हैं।

''बौद्धमत स्वयं भारतीय भौतिकवादियों का वैदिक धर्म के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह कणाद तथा कपिल की धाराओं को कायम रखता है। कणाद का परमाणुवाद डिमोक्रिट्स के परमाणुवाद से बहुत मिलता-जुलता है। कपिल की युक्ति है—'केवल विचार का ही अस्तित्व नहीं है, क्योंकि बहिर्जगत् का भी हमको सहज प्रत्यय है।' इसलिये यदि एक का अस्तित्व नहीं है तो दूसरे का भी अस्तित्व नहीं। फिर केवल शून्य ही रह जाता है (साख्यदर्शन प्रथम खण्ड, सूत्र ४२-४३) इसके ऊपर विज्ञानभिक्षु की टीका और भी स्पष्ट है। विचार ही केवल मात्र वास्तविकता नहीं है, क्योंकि भूत और विचार दोनों का प्रमाण सहज प्रत्यय है। यदि इस प्रमाण से भूत सिद्ध नहीं है, तो विचार भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दोनों का प्रमाण से भूत सिद्ध नहीं है, तो विचार भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दोनों का प्रमाण सहज प्रत्यय है। इस प्रकार केवल शून्य ही रह जाता है। बौद्ध दर्शन में सर्वास्तित्ववादी तथा शून्यवादी—दोनों ही भौतिकवादी मत की पुष्टि करते हैं। लेकिन निर्वाण को मान लेने के कारण उनका भौतिकवाद अपरिणत रह जाता है। तत्कालीन समाज का अन्तर्विरोध ही इस दार्शनिक अन्तर्विरोध के रूप में प्रकाश पाता है।

## योगबल और अलौकिक शक्ति

यहां योगादि के विषय में एक बात असङ्गत न होगी। क्या तपस्या, योग, क्रिया आदि से मनुष्य अलौकिक कार्य सम्पन्न कर सकता है? जो

कुछ पहले कहा जा चुका है, उससे उत्तर स्पष्ट है—कदापि नहीं। योग की शास्त्रीय परिभाषाओं से भी उसके ऊपर प्रकाश पड़ता है पातञ्जल सूत्र की परिभाषा है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (१।२) पर चित्त की वृत्तियों का निरोध-यह स्वयं ही एक असम्भव क्रिया है, इसलिये एक असम्भव क्रिया से असम्भव फल प्राप्त होता है या नहीं यह प्रश्न स्वयं ही अपना है। गीता की परिभाषा है—**योगः कर्मसु कौशलम्** (२।५०)। तिलक ने इसी परिभाषा पर जोर दिया है। स्पष्ट ही यह परिभाषा योग को अलौकिक क्षेत्र से उतारकर व्यवहार-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न है। व्यावहारिक अर्थ में ही एक मार्क्सवादी गीता के उस श्लोक की प्रशंसा कर सकता है—जिसमें मनुष्य को समदर्शी होने का उपदेश दिया गया है। लाभ और हानि, जय और पराजय, दोनों में ही उसको अविचलित रहने को कहा गया है, लेकिन मार्क्सवाद और गीता की प्रेरणाएँ भिन्न हैं। गीता की प्रेरणा है—**कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।** (२।४७) लेकिन मार्क्स के दर्शन में ईश्वर को फल सौंपने की बात नहीं आती, क्योंकि यह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वर में विश्वास से ही अलौकिक शक्ति की कल्पना आती है। जन्मान्तर-रहस्य इसी का एक अङ्ग है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर 'Dialecitcs of nature' नामक पुस्तक के एक अध्याय में एंजिल्स ने दिया है। प्रेतात्मा बुलाने वाले की कारस्तानियां अदालतों में कैसे खुलीं, उन घटनाओं का उल्लेख करते हुए एंजिल्स ने अलौकिक शक्ति की सम्भावनाओं को प्रमाणित किया है।''

मार्क्सवादी आर्दशवाद के रूप में अद्वैतवाद को ही क्यों देखना चाहता है? अनेक अध्यात्मवादी चेतन के समान ही अचेतन को भी वास्तव मानते है अद्वैतवादी बृत्तिविशिष्ट चैतन्यरूप दृष्टि व्यवावहारिक सत्य मानते हैं और विषय को भी उसी कोटि का मानते हैं। बिना चेतन सत्ता स्वीकार किये क्रियाशीलता ही नहीं बन सकती, फिर क्रान्तिकारी



क्रियाशील की बात तो दूर की है। क्रियात्मक सत्यता अवश्य प्रयोग सापेक्ष है, परन्तु वस्तुसत्ता प्रयोग की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे अगर कूटस्थ सत्य, परमार्थ आत्मा सत्य है, तो उसके लिये प्रयोग अपेक्षित नहीं। वहाँ तो अज्ञान-निवृत्यर्थ ज्ञानमात्र अपेक्षित है। क्रिया पुरुषतन्त्र हो सकती है, परन्तु ज्ञान तो पुरुष तन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र ही होता है जो विभाज्य एवं विपरीत होता, वह परमार्थ सत्य होता ही नहीं। सत्यता की मुख्य परीक्षा प्रमाण से होती है। प्रयोग भी प्रमाण का रङ्ग होकर ही परीक्षा में उपयुक्त हो सकता है विचार क्रिया दोनो ही एक कर्ता-प्रयोक्ता द्वारा सम्पन्न होते हैं—ये तो ठीक है, परन्तु 'एक ही सत्य की विपरीत दिशाएँ हैं'—यह निरर्थक वागाडम्बर मात्र है।

परिस्थितियों की उपज मनुष्य है या मनुष्य की उपज परिस्थितियां यह विषय शुरु से ही विचारणीय रहा है फिर भी सिद्धान्ततः मनुष्य चेतन है। परिस्थितियाँ जड़ हैं। मनुष्य ही परिस्थितियों का निर्माता है और भीष्मजी ने कहा है काल या परिस्थितियाँ राजा का कारण हैं या राजा काल का कारण है—यह संशय न होना चाहिये, क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है—

**कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।**
**इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्।।'**

(महा० उद्योगपर्व १३२।१६)

अस्तु, हीगेल के निर्विशेष मानस और वेदान्त के ब्रह्म में महान् अन्तर है। मन एक भौतिक वस्तु है, किन्तु ब्रह्म नित्य कूटस्थ अनुभवस्वरूप है। बृहि धातु से ब्रह्म की निष्पत्ति अवश्य होती है, परन्तु वर्धित होना 'ब्रह्म शब्द का अर्थ नहीं है। निरतिशयबृहत् तत्व ही ब्रह्म है। वह देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न है। निरतिशय पदार्थ बृहत् कहा जा सकता है भौतिक जड़ अनृत मर्त्य को निरतिशय बृहत् नहीं कहा वा

सकता, अतएवं सत्य चैतन्य त्रिबालावाध्य अमृत कूटस्थ अपरिच्छिन्न अनन्त अखण्ड ज्ञान ही ब्रह्म-शब्दार्थ ठहरता है। वर्धन हेतु होने से प्राण में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि प्राण रहने पर ही शरीर की बृद्धि आदि होती है। औपनिषद परब्रह्म में तो **'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि श्रृतियों के अनुरोध से निरतिशय बृहत्तत्त्व के अर्थ में ही ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है।

यह भी कहा जा चुका है जिसमें वास्तविक विभाजन होता है, वह ब्रह्म नहीं होता। अनिर्वचनीय माया के अध्यास से ही उसमें अनेक प्रकार के विभागों का अध्यारोप होता है। इसी तरह यह भी कहना गलत है कि मायावादी दर्शन की असङ्गतियों को दूर करने के लिए गौडपद ने ब्रह्म या आत्मा को मूल में रखकर भूत जगत् को उसका फलस्वरूप बतलाकर सत्य की मर्यादा रखी है। क्योंकि अनादि-अपौरुषेय वेद, उपनिषद् आदि के द्वारा ही ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया जाता है। अद्वैतवादी शंकर ने तो गौडपाद के ही मत का अनुसरण करके प्रस्थानत्रयी पर भाष्य किया है। गौडपाद का सिद्धान्त तो 'अजातवाद' है। उनके यहां तो भूत जगत् कभी हुआ नहीं। **'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सादृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।** (माण्डुक्यकारिका ४।३१) जो आदि में नहीं और अन्त में नहीं होता, वह वर्तमान में भी वैसा ही होता है। भूत, जगत, वितथ स्वप्न, माया आदि वितथ पदार्थों के सदृश अवितथ से प्रतीत होते हैं, इस दष्टि से ब्रह्म-तत्त्व ही त्रिकालावाधित सत्य है।

न्याय मीमांसा आदि दर्शनों ने भूत-सत्ता अवश्य स्वीकार की है, परन्तु चेतन आत्मा एवं अनादि अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य तथा शास्त्रोक्त धर्म-अधर्म आदि का अस्तित्व भी उन्हें स्वीकृत है। फिर उन आस्तिक दर्शनों से जड़वादी भौतिक दर्शनों की सिद्धि कैसे हो सकेगी? बृत्तिरूप ज्ञान प्रमाण सापेक्ष होता है—यह वेदान्तदर्शन को भी मान्य है। सौत्रान्तिक योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक—चारों प्रकार के बौद्ध कम-से-



कम प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमानप्रमाण भी मानते हैं, किन्तु भौतिकवादी चार्वाक आदि तो अनुमानप्रमाण भी नहीं मानते। बौद्ध भी देहभिन्न क्षणिक विज्ञान की आलयधारा को आत्मा मानते हैं, किन्तु चार्वाक एवं मार्क्स आदि तो जीवित देह को ही आत्मा मानते हैं।

बौद्ध भले ही वैदिक-धर्म के विरोधी हो फिर भी उनके यहाँ आत्मा तथा पुण्य, पाप, सत्य, तपस्या तथा प्रमाण आदि मान्य हैं। जड़वादी तो सबसे गये बीते हैं। कणाद एवं गौतम परमाणु, ईश्वर तथा जीवात्माओं के पुण्यापुण्य अदृष्टों को जगत्-कारण मानते हैं, अतः इनका भी भौतिक वादियों से कोई मेल नहीं है। कपिल, पतञ्जलि भी प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम को प्रमाण मानते हैं, तदनुसार असङ्ग, अनन्त नित्य चेतन आत्मा तथा महदादि प्रपञ्च का कारण प्रकृति एवं धर्माधर्म उन्हें मान्य हैं। ये लोग ईश्वर भी स्वीकार करते है। अवश्य कपिल आदि बाह्यवादी हैं, परन्तु उनके असङ्ग चेतन आत्मा की सिद्धि बाह्यार्त पर अवलम्बित नहीं हैं, क्योंकि कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणाद आदि सभी का आत्मा नित्य है। जो नित्य होता हैं उसकी सिद्धि अन्यसापेक्ष नहीं होती। यहाँ तक कि चारो प्रकार के बौद्ध एवं जैन आत्मा को वाह्यार्थ सापेक्ष नहीं मानते, बल्कि बौद्धों की दृष्टि से तो बाह्यार्थ विज्ञान का परिमाण हैं। उनका स्पष्ट मत है कि जैसे मत्तिका के रहने पर ही घटादि का उपलम्भ होता हैं, अन्यथा नहीं—**सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः,** अतः विज्ञान एवं बाह्यार्थ का अभेद ही होता है। सौत्रान्तिक, वैभाषिक की दृष्टि में बाह्यार्थ भी गम्य है। वैसे वेदान्ती भी व्यावहारिक, प्रतिभासिक दो प्रकार का बाह्यार्त मानते ही हैं। जिस कोटि का प्रमाण एवं प्रमाता है, उसी कोटि का बाह्यार्थ भी हैं, परन्तु भौतिकवादी मत की पुष्टि इन किन्हीं दर्शनों से नहीं होती। इन मतों से मन, ज्ञान, भूत अथवा देह के परिणाम नहीं मान्य हैं।

इसी तरह योग आदि के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों का टाँग अड़ाना भी अनाधिकार पूर्ण चेष्टा हैं। जैसे बंदर को अदरक का स्वाद अज्ञेय होता

हैं, शाकवणिकलोगों को बहुमूल्य रत्नों का महात्म्यज्ञान दुःशक हैं, वही स्थिति योग के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों की है। जो सत्य, अहिंसा, संयम, न्याय को भी स्वीकार करने में समर्थ नहीं होता है, जो वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विध्वंस के मार्ग परचलकर केवल धन को ही सर्वस्व मानकर उसे ही अपना ध्येय मानता हैं, उसके यहाँ त्याग संयम, अपरिग्रह, तपस्यादिमूलक योग की बातों का क्या महत्त्व हो सकता हैं?

चित्त की वृत्तियों के निरोध को मार्क्सवादी एक असम्भवचीज मानते हैं। अतएव असम्भव बीज से होनेवाले फलों को भी असम्भव मानते है। परन्तु यदि योग या वेदान्तानुसार पाञ्चभौतिक मन या चित्त एक परिणामी वस्तु हैं और उसका परिणाम सहेतुक हैं तो परिणाम-निरोध भी क्यों नहीं हो सकता? सुषुप्ति ५ चित्त का शब्दाकार परिणाम निरोध मान्य है तब फिर समाधि में भी चित्त के बृत्तिपरिणाम साहित्य होने में क्या आपत्ति है? बृतिद्वय की संधि में चित्त का निर्बृत्तिक होना तर्कसङ्गत भी है। चित्त के एक व्यापार से एक बृत्ति होती है। एक व्यापार के अनन्तर अन्य व्यापार प्रारम्भ से पूर्व क्षण में चित्त के निर्व्यापार एवं निवृत्ति मानने में कोई भी अड़चन नहीं हो सकती, जैसे अलातचक्र की तीव्र गति होती हैं, वैसे ही मन्द गति भी होती है।

साथ ही गति—राहित्य का भी कोई समय हो ही सकता है, उसी तरह चित्तकी शीघ्र, मन्द गति एवं गति-राहित्य भी सम्भव हैं। इस तरह जब योग असम्भव वस्तु नहीं हैं तो उसका फल भी असम्भव वस्तु नहीं हैं। **'योगः कर्मसु कौशलम्** (गीं० २।५०) का तिलक द्वारा वर्णित अर्थ गलत हैं। वस्तुतः कर्म-कौशल को योग नहीं कहा जाता है, किन्तु योग ही कर्मों में दक्षता है। योग की परिभाषा स्पष्ट की गयी हैं-**'समत्वंयोग उच्यते'** (गीं० २/५०) सिद्धि-असिद्धि में समता योग हैं। इस तरह समत्वबुद्धि से युक्त कर्म भी गीता में योग कहा गया हैं। तिलक ने भी भले ही कर्मों में कौशल को योग कहा हो तों भी उन्होने पसातंजल योग एवं उसके फल का अपलाप नहीं किया हैं। मार्क्सवादी के लिए गीता की प्रशंसा का कोई



अर्थ ही नहीं, क्योकि गीता में तो स्वयं ही निर्बातस्थित निश्चल दीप के तुल्य योगी के यत चित्त का निश्चल होना बतलाया हैं—

**'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।**
**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।** (गी ६/१९)

मार्क्स स्पष्ट ही निरश्वरवादी है, फिर उसकी दृष्टि से कर्मों का ईश्वर में समर्पण करना, फल की आकांक्षा बिना ईश्वराधन बुद्धि से शास्त्रलोक्त कर्मो का अनुष्ठान करना आदि सब बातें व्यर्थ हैं। धन को ही सर्वस्व मानने वाले भौतिकवादी के लिए हानि-लाभ, जय-पराजय को समान समझना कहाँ तक सम्भव हैं। किसी दाम्भिक के दम्भ के भण्डाफोड़ होने से किसी युक्ति-शास्त्रसम्मत सिद्धान्त का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एंजिल्स के 'डायलेक्टस आफ नेचर' पुस्तक की बाते भी पुरानी पड़ गयी हैं। वस्तुतः वैज्ञानिकों ने ही प्रचालित जडवाद एवं बिकासवाद की युक्तियों का खण्डन करके एक अलौकिक शक्ति का महत्व सिद्ध किया है।

## राजनीतिक-दर्शन

पाश्चात्य देशों में दर्शन एवं शास्त्र शब्द बड़ा ही सस्ता बन गया है। किसी भी विचार को, जैसे गर्भशास्त्र, मार्क्सदर्शन आदि की वे शास्त्र संज्ञा देते हैं। किन्तु विश्वविख्यात भारतीय विद्वानों ने तो शास्त्र शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से अनादि अपौरुषेय वेद में ही किया है। उन्हीं में प्रत्यक्षानुमान से अनधिगत धर्म, ब्रह्मादितत्त्वबोधनक्षमता है—**'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।'**, **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्र० सू० १/१/३) में शास्त्र शब्द का ऋग्वेदादि अर्थ ही युक्त है। जैसे रूप आदि के सम्बन्ध में चक्षु आदि स्वतन्त्र प्रमाण हैं, वैसे ही धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय-अचिन्त्य विषयों में स्वतन्त्र रूप से अपौरुषेय वेद ही प्रमाण हैं अन्य तदाश्रित तदुपवृंहित आर्ष धर्मग्रन्थों में तो

प्रत्यक्षानुमानागमादिमूलकत्वेनैव प्रामाण्य है। अतएव शास्त्रत्व भी वेदमूलक होने से ही उनमें सिद्ध होता है। प्रमाण, प्रमेय, साधन फल का प्रामाणिक निर्देश दर्शन का स्वरूप होता है। औत्सुक्यनिवृत्ति, जिज्ञासोपशान्ति मात्र पाश्चात्त्य दर्शनों का उद्‌देश्य है। तद्भिन्नपरस्पराविरोधेन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति एवं अव्यभिचरित तत्साधनों का सम्यक् ज्ञान भारतीय दर्शनों का उद्‌देश्य है।

आजकल के कुछ समालोचकों का कहना हैकि 'पाश्चात्त्य देशों के राजनीतिक दर्शन हैं, किन्तु भारत में कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है। कारण, 'पाश्चात्य देशों के विद्धान् राजनीतिक एवं दार्शनिक दोनों ही थे; किंन्तु भारत के राजः तिज्ञ दार्शनिक नहीं थे।' परन्तु उनका यह कहना सर्वथा निराधार है। सबसे पहली बात तो यह है कि सर्वदर्शनों का शिरोमणि वेदान्त है। वेदों में वेदान्त भी है, राजनीति भी है। मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्रों में दर्शन भी है, राजनीति भी है। व्यास सबसे बड़े राजनीतिज्ञ है। बेदान्तदर्शन के रचयिता व्यास ही महाभारत के रचयिता हैं। महाभारत का मोक्षधर्म, गीता का दर्शन और शान्तिपर्व का राजधर्म पढ़े तो उक्त मत सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जायेगा। बृहस्पति, कणिक, कौटल्य, कामन्दक आदि सभी राजनीतिक दार्शनीक थे। योगवसिष्ठ के वसिष्ठ महादार्शनिक एवं महाराजनीतिज्ञ थे। सूर्यवंश की राजनीति के वे ही कर्णधार थे। वस्तुस्थिति यह है कि पदवाक्यप्रमाणपारावारीण विद्वान् शब्द-शुद्धि आदि का कार्य पाणिन्यादि व्याकरण से चलाते हैं, वाक्यार्थ निर्णय के लिए पूर्वोत्तरमीमांसा का उपयोग करते है, अनुमान आदि के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक का उपयोग करते हैं, तथा वे ही 'तत्त्व-संख्यान' चित्त-निरोध आदि में सांख्य एवं योग का उपयोग कर लेते हैं। वे अगतार्थ अपूर्व वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं। पाश्चात्य लोग गतार्थ वस्तुओं का भी निरूपण करके स्वतन्त्र दार्शनिक बनने की चेष्टा करतें हैं।

राजनीतिक शास्त्र या दर्शन का कार्य राजाओं, शासकों एवं



तत्पालित भुखण्ड या अखण्ड भूमण्ड या प्रपञ्चमण्डल के प्राणियों के लिये ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय एवं परम नि:श्रेयस-प्राप्ति का प्रशस्त मार्ग और अनुष्ठानसुविधा-प्रत्युपस्थापन करना है। तत्प्रबोधक अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक आर्ष-ग्रन्थ-मनु, नारद, शुक्र, बृहस्पति, अग्नि-मत्स्य-विष्णुधर्मादि पुराण, रामायण, महाभारत आदि राजनीतिक शास्त्र या दर्शन हैं। इस शास्त्र के अभिमत प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम,उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि- ये छः प्रमाण हैं। मूलरूप में सत्य-अनृत, चेतन-अचेतन दो ही तत्त्व हैं। अचेतन में प्रकृति, महान, अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण— पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, वायु, श्रोत्र, उपस्थ- पञ्च कर्मेन्द्रियाँ; प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान— पञ्चप्राण; मनोबुद्धिचित्ताद्यात्मक अन्त:करण— ये २४ भेद हैं। धर्म,अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग प्राप्ति फल है। आचार्य- परम्परा से पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा षडङ्ग वेदों एवं अन्य आर्षग्रन्थों के आधार से कर्तव्या-कर्तव्य-ज्ञानपूर्वक कर्तव्यपालन, अकर्तव्य-परिवर्जन से धर्म की प्राप्ति होती है। धर्माविरुध अर्थशास्त्रोक्त उद्योगपरायण होने से अर्थ की प्राप्ति होती है, धर्मार्थाविरुद्ध कामशास्त्रोक्त मार्ग से शब्दादि साधनसामग्री द्वारा काम-प्राप्ति होती है। औपनिषद परब्रह्म के तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आन्वीक्षिकी, न्यायोपवृंहित वेदान्तविद्या— ब्रह्मविद्या, त्रयी वेदोक्त धर्मविद्या, वार्त्ता, अर्थविद्या आदि सर्वपूरुषार्थोपयोगिनी विद्याओं का रक्षण एकमात्र राजनीति से ही सम्भव होता है। उसके बिना सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं। राजनीति की स्वरूपभूता दण्डनीति के विप्लुत होने से सभी विद्याएँ विप्लुत हो जाती हैं। **'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता सतीर्विद्याः प्रचक्षते। सत्योऽपि हि न सत्यस्ताः दण्डनीतेस्तु विभ्रमे।'** (कामं० नी० २/८) **'मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।'** (महा० शा० ६३/२८)

**आर्यमर्यादा की रक्षा, वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा त्रयी के प्रोत्साहन से**

लोकप्रसाद होता है अन्यथा लोकावसाद होता है **व्यवस्थितार्थमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।।** (कौटलीय अर्थ० १/२/१७) देहेन्द्रिय मनबुद्धि आदि से भिन्न परलोकगामी कर्त्ता भोक्ता, आत्मा तथा परलोक में विश्वास के अनन्तर ही धर्म में प्रवृत्त होती है कतृत्व-भोक्तृत्वशून्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मात्मविज्ञान से परम कैवल्यमोक्ष तथा जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है तथा निस्संदेह एवं निर्भय होकर समष्टि विश्वहितसाधनार्थ राजनीतिज संधि-विग्रहादि में सफल प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिए गीता में **'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'** आदि से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आत्मस्वरूप का वर्णन है और राजर्षियों को इस ब्रह्मविद्या का वेत्ता-वेदयिता बतलाया गया है।

विश्व, विराट, तैजस, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ, ईश्वर, कूटस्थ, ब्रह्मरूप व्यष्टिसमष्टि के अभेद-बोध से ही आत्म हित एवं विश्वहित में एकता होती है। व्यष्टिअभिमानरूप संकीर्णता को बाधित करने तथा समष्टि-अभिमान उपोद्बलित होने से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव उदित होता है। आत्मीयता के अभियान के परिपाक से आत्मत्वाभिमान या समष्टि में अहग्रहोपासना सम्पन्न होती है। 'व्यष्टि-समष्टि' स्थूल-सूक्ष्म कारण की अभेद भावना उपासना-कोटि में परिगणित है। कूटस्थ ब्रह्म की अभेद भावना तत्त्वसाक्षात्कारपय्यवसायिनी ही होती है। व्यवहार दशा में भी इन भावनाओं के फलस्वरूप कुल,गोत्र, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र, विश्व आदि समष्टि जतत् के सम्बन्ध में आत्मीय हित तथा आत्महित के समान ही हिताचरण एवं अहितनिवारणार्थ निरासङ्ग प्रवृत्ति होती है।

## शास्त्रीय शासनविधान

सभी प्राणी अमृतस्वरूप परमेश्वर के पुत्र हैं— 'अमृतस्य पुत्राः' (श्वेता० उ० २/५) अर्थात् सभी देहादिभिन्न चेतन, अमल, सहज, सुखस्वरूप जीवात्मा स्वप्रकाश सच्चिदादन्द परमेश्वर के ही अंश है। जैसे महाकाश के अंश घटाकाश, अगिन के विस्फुलिङ्ग, गंगाजल के तरङ्ग



आदि अंश हैं, वैसे ही अखण्डबोधस्वरूप परमेश्वर का बोधस्वरूप जीवात्मा अंश हैं। अतः सबकी सहज समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही माननीय है। जैसे मलिन भूमि के सम्पर्क से निर्मल जल मलिन हो जाता है, कतक, निर्मली आदि सम्पर्क से जीवात्मा मलिन होता है तथा कर्मोपासना, ज्ञान आदि से पुनः प्रसंन्नस-निर्मल-निष्कलङ्क हो जाता है। भ्रातृता, आत्मीयता तथा आत्मैक्यता के कारण सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय राजनीति आवश्यक है।

**न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।**
**धर्मेणैव प्रजाः यर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।**

कृतयुग में सभी तत्त्ववित् धर्मनिष्ठ, विवेकी तथा सात्त्विक होते है। सब एक दूसरे के पोषक, रक्षक, हितचिन्तक होते है। कोई किसी का शोषक नहीं होता। सब धर्मनियन्त्रित होकर परस्पर एक दुसरे के पूरक बनते हैं। तामस, राजस भाव की वृद्धि, अधर्म-अनाचार के विस्तार से सत्त्व एवं धर्म का ह्रास होता है। अतः मोह के प्रभाव से ब्रह्मात्मविज्ञान संकुचित होता है,काम-क्रोध का विस्तार होता है, तभी मात्स्यन्याय फैलता है। उस मात्स्यन्याय को रोक कर सर्वस मञ्चस्य सर्वहित-सम्पादनार्थ राज्य-व्यवस्था होती है। अहिंसा, सत्यामि धर्म का प्रतिष्ठापन, ब्रह्मविज्ञान विस्तार और दण्डविधान— ये ही मात्स्यन्याय निरोध के मूल उपाय हैं, यह कहा जा चुका है। चाणक्य के अनुसार **'सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः' अर्थस्य मूल राज्यम्, राज्यमूलमिन्द्रियजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः, विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा'** (चाणक्य सूत्र १-६)। सातिशय, निदतिशय- सर्वविधसुख का मूल है, परन्तु धर्म का मूल अर्थ है। अर्थ रहने पर ही धर्मानुष्ठान सम्भव होता है। अर्थ का मूल राज्य है, राज्य का मूल वृद्धसेवा है वृद्धों की सेवा का भी मूल विज्ञान है; इसलिये विज्ञानसम्पन्न होकर, जितात्मा होकर सर्वसूखार्थ प्रवृत्त होना आवश्यक है। मनु के अनुसारः—

**आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।**

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।।

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतानि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः।।

(मनु १/५-६)

सम्पूर्ण जगत् सृष्टि के प्रथम नामरूपरहित, कल्पनातीत, अलक्षण, सर्वत:प्रसुप्त, तमोमय अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञान-विशिष्ट चिन्मात्र था। सर्वकारण परब्रह्म परमेश्वर स्वयम्भू भगवान ही तम को अभिभूत करके इस अव्यक्त जगत् को व्यक्त करते हुए प्रादुर्भूत होते हैं। जैसे वसंत, ग्रीष्म, आदि ऋतुओं के बदलने पर ऋतुलिङ्ग प्रकट होते हैं, उसी तरह प्राणी समयानुसार अपने-अपने कर्मो को प्राप्त होते है। कर्मानुसार ही चराजर विश्व का उत्पादन भगवान् करते हैं—'**यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावर-जङ्गमम्**' (मनु० १/४१)। कर्मानुसार ही विविध योनियों में प्राणियों के जन्म होते हैं। कर्ममूलक सृष्टि का विस्तार, वर्णाश्रमव्यवस्था का प्रतिपादन करके मनु कहते हैं कि संसार में अराजकता होने पर सारी प्रजा घबड़ा कर भय से इधर-उधर भागने लगी, तब उसकी (प्रजा की) रक्षा के लिए प्रजापति ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ लोकपालों के अंश से राजा का निर्माण किया—

**अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।**
**रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः।।**

**इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।**
**चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निहत्य शाश्वतीः।।**

(मनु० ७।३-४)

देवताओं के अंश से उत्पन्न होने के कारण ही राजा अपने तेज से सब प्राणियों को दबा लेता है। राजा बालक हो तो भी मनुष्य समझ कर **उसका अपमान नहीं करना चाहिये। उस राजा के लिये भगवान् ने सब** प्राणियों की रक्षा करनेवाले धर्मस्वरूप ब्रह्मतेजोमय दण्ड का निर्माण किया। उस दण्ड के भय से ही स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी अपने पदार्थों का उचित उपभोग कर पाते हैं तथा अपने कर्तव्य से विचलित भी नहीं होते—



**तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।**
**भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।।**

(मनु० ७।१५)

दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता, शासक और चारों आश्रमों के धर्म का साक्षी है—

**स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।**
**चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।**

(मनु० ७।१७)

## दण्ड का महत्व

दण्ड ही सब प्रजा का शासक एवं रक्षक है। सबके सोने पर दण्ड ही जागता है। विद्वानों ने दण्ड को ही धर्म कहा है। विचारपूर्वक प्रयुक्त हुआ दण्ड प्रजा का अनुरञ्जन करनेवाला और अविचारित दण्ड प्रजा का विनाशक होता है। यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड का विधान न करे तो बलवान् प्राणी दुर्बलों को वैसे ही पकाकार खा जायँ, जैसे लोग मछलियों को भूनकर खा जाते हैं। कौवा पुरीडाश खाने लग जाय, कुत्ता हवि चाटने लग जाय—किसी पदार्थ पर किसी का स्वत्व न रहे और छोटे-बड़े तथा बड़े-छोटे हो जायँ। सभी वर्ण दूषित हो जायँ, मर्यादाएँ भङ्ग हो जायँ और सारे संसार में उथल-पुथल मच जाय—

**दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।**
**दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः।।**
**समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।**
**असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।**
**यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।**

**शूले मनस्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तरा:।।**
**अद्यात् काक: पुरोडाशं श्वा च लिह्याद् हविस्तथा।**
**स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिश्चित् प्रवर्तेताधरोत्तरम्।।**
**दुष्येयः सर्ववर्णाश्च भिन्द्येरन सर्वसत्तव:।**
**सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात्।।**

(मनु० ७।१८-२१; २४)

राजा को दण्ड का ठीक-ठीक विधान करनेवाला, सत्यवादी, विचारपूर्वक काम करनेवाला, बुद्धिमान् धर्म, अर्थ, और काम का ज्ञाता होना चाहिये। ऐसा मनु आदि धर्मशास्त्रकारों का मत है—

**तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।**
**समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्।।**

(मनु० ७।२७)

दण्ड बड़ा तेजस्वी है। अजितेन्द्रिय लोग ठीक-ठीक उसका विधान नहीं कर सकते। वह धर्मविचलित राजा को बन्धु-बान्धवों सहित नष्ट कर देता है। तथा दुर्ग, राज्य, स्थावर-जङ्गम जगत्, अकाशचारी देवगण और ऋषि गण को भी पीड़ित करता है।

## शासक

राजा या शासक को न्यायपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन करना चाहिये। शत्रुओं को उग्र दण्ड देना चाहिये। मित्रों के साथ छल कपट का व्यवहार नहीं करना चाहिये। प्रेमीजनों और सज्जनों के साथ सहिष्णुता रखनी चाहिये। ऐसा व्यवहार करनेवाला राजा भले ही कोषरहित हो, उसका यश ऐसा फैलता है, जैसे जलपर तेल-बिन्दु। राजा को चाहिये कि वह पवित्र विद्वान्, ब्राह्मण एवं वृद्धों की नित्य सेवा करे। ऐसा करने से राक्षस भी राजा का सम्मान करते हैं तथा विनय (जितेन्द्रियता, नम्रता) भी प्राप्त होती है। अविनय (उद्दण्डता) से सुसमृद्ध राजा भी सपरिवार नष्ट हो



जाते हैं और विनय से जंगल में रहने वाले कोषविहीन राजा भी राज्य पा लेते हैं। शिकार, द्यूत, दिवास्वप्न, निन्दा, स्त्री, मद (नशा), नृत्य, गीत, वादित्र और व्यर्थ घूमना (हवाखोरी) इन देश कामज व्यसनों तथा चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (गुणों में भी दोषदृष्टि), दूसरे का धन छीन लेना, गाली-गलौज और मार-पीट—इन आठ क्रोधज व्यसनों से तथा इन दोनों के मूल लोभ से राजा को अत्यन्त बचना चाहिये। कामज व्यसन में मदिरापान, द्यूत, स्त्री और मृगया—ये चार तथा क्रोधज व्यसन से गाली-गलौज, मारपीट और दूसरे का धन छीन लेना ये तीन बहुत ही भयंकर हैं। इनसे तो सर्वथा बचना चाहिए।

## मन्त्रि परिषद

अत्यन्त सुकर कर्म भी एक असहाय पुरुष दुष्कर होता है। अत: राजा को शास्त्रज्ञानी शूर, लब्धप्रतिष्ट, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आष्ठ मन्त्री रखने चाहिये। संधि, विग्रह, सेना, खजाना, खेती खान, रक्षा (बन्दोबस्त) आदि के विषय में पृथक-पृथक प्रत्येक की राय जानकर विद्वान ब्राह्मण के साथ विचार कर निर्णय करना चाहिये। राज्य का काम जितने लोगों से अच्छी तरह से चल सके उतने लोगों को परीक्षा करके उपमन्त्री बनाना चाहिये। खान, चुंगी और कर वसूल करने के लिए शूर पवित्र निर्लोभ लोगों को और पापभीरू लोगों को घर आदि के प्रबन्ध-सम्बन्धी काम में लगाना चाहिये। इसी तरह सर्वशास्त्रविशारद इङ्गित आकर और चेष्टा जानने वाला पवित्र कुशल कुलीन को दूत बनाना चाहिये। दूत-अनुरक्त, पवित्र चतुर, स्मृतिशाली, प्रतिभासम्पन्न, देश-काल परिस्थिति का ज्ञाता, सुन्दर निर्भीक और वाग्मी होना चाहिये।

## सैन्य संगठन

सेनापति के अधीन चतुरङ्गिणी सेना, सेना के अधीन युद्ध तथा विनय सिखाना, राजा के अधीन खजाना और राज्य तथा दूत के अधीन संधि विग्रह होते हैं। दो राजाओं में मेल कराना या मिले हुए राजाओं को

परस्पर लड़ा देना, यह दूत का काम है। कृषक जैसे खेत में से घास को निकालकर धान्य की रक्षा करता है, उसी तरह राजा दुष्टों का निग्रहकर प्रजा की रक्षा करे। जैसे शरीर को कष्ट देने से प्राणों का क्षय होता है, उसी तरह राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाने से राजा के प्राणों का क्षय होता है। जो राजा अज्ञानवश राष्ट्र को पीड़ा पहुँचाता है, वह अपने बन्धु-बान्धवों समेत जीवन भ्रष्ट हो जाता है।

## कोष एवं गुप्तचर

राजा को लगान वसूली, नौकरों का मासिक वेतन, मन्त्री आदि को बाहर भेजना, किसी को हानिकर काम करने से रोकना, किसी काम को कराना, मुकदमों का निर्णय, अपराधियों को दण्ड, पापियों का प्रायश्चित, पाँच प्रकार के गुप्तचर, प्रजा का प्रेम या असंतोष और अन्य राजाओं के व्यवहार, इन बातों पर भलीभांति विचार करना चाहिये। मध्यक (अपने और शत्रुदेश के बीच का राजा) का व्यवहार, विजिमीषु (अपने को जीतने के लिये आनेवाले राजा) का कर्म तथा उदासीन और शत्रु की कार्यवाहियों पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये।

## मण्डल प्रकृति

द्वादश राजन्य-मण्डल की चार मूल-प्रकृतियाँ हैं—(१) मध्यस्थ, (२) विजिगीषु, (३) उदासीन और (४) शत्रु। अर्थात् इनके वश में रहने से सभी राष्ट्र वश में रहते हैं। आठ और प्रकृतियाँ हैं—मित्र, शत्रु-मित्र, मित्र-मित्र, अरि-मित्र, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्दासर और पार्ष्णिग्राहासार। इन प्रत्येक की मन्त्री, राष्ट्र (प्रजा), दुर्ग, खजाना और शासन विभाग—ये पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, इस तरह ६० प्रकृतियाँ हुई। और मूल १२ मिलकर सब ७२ हो गयीं। अपनी चारों ओर की सीमा के राजा तथा उनके मित्रों को शत्रु समझना चाहिए। उनसे आगे के राजाओं को अपना मित्र और उनसे भी आगे के राजाओं को उदासीन समझना चाहिये। इन सबको साम, दान, भेद और दण्ड—इन प्रत्येक उपायों से अथवा सभी उपायों से



सबको अथवा अधिक-से-अधिक जितने बने रह सकें, उनको मित्र बनाये रखना चाहिये। यद्यपि आज परिस्थिति बदली हुई है, तथापि रूपान्तर से यह शत्रु-मित्र की व्यवस्था आज भी अक्षुण्ण है।

संधि, विग्रह (लड़ाई), यान (चढ़ाई), आसन (किले के अन्दर ही बंद रहना), द्वैधीभाव (भेद) और संश्रय (किसी बलवान् का आश्रय)—इन छः गुणों का बराबर विचार करना चाहिये: एक साथ काम करने से भूत में हुए या भविष्य में होनेवाले हानि-लाभ को बाँट लेने की प्रतिज्ञा करना तथा पृथक-पृथक काम करने से भूत में हुए या भविष्य में होनेवाले हानि-लाभ को बाँट लेने की प्रतिज्ञा करना—ये संधि के दो भेद हैं। शुद्ध संधिमूलक ही शान्ति होती है। आस्तिकता तथा धर्म-प्रधानता के बिना संधियाँ अनेक हेतुओं से अव्यवस्थित रहती हैं, इसीलिये शान्ति भी अव्यवस्थित रहती है। अतः धर्मनिष्ठा तथा आस्तिकता ही शुद्ध संधि एवं स्थिर शान्ति का मूल मन्त्र है।

## विग्रह

अपने विजय के लिये लड़ना और मित्र की हानि के निमित्त मित्र के शत्रु से लड़ना—ये विग्रह के दो भेद हैं। आपद्ग्रस्तशत्रु को देखकर उसपर अकेले चढ़ाई करना अथवा मित्र की सहायता से चढ़ाई करना—ये यान के दो भेद हैं। सैन्य-बल कमजोर देखकर किला में रह जाना—ये आसन के दो भेद हैं। सेना से फूट डाल देना अथवा दो मित्र राजाओं में फूट डाल देना—ये भेदनीति को दो प्रमेद हैं। शत्रु से पीड़ित होकर किसी बलवान् का आश्रय लेना अथवा शत्रु पीड़ा न पहुँचाये इसलिये किसी बलवान् का आश्रय लेना—यह दो प्रकार का संश्रय है।

## कूटनीति

संधि करने से भले ही थोड़ी तात्कालिक पीड़ा हो, किन्तु भविष्य में लाभ हो तो संधि अवश्य कर लेनी चाहिये। जब सारी प्रकृति संतुष्ट हों और कोष तथा युद्ध के साधन पर्याप्त हों तब युद्ध करना चाहिये। जब

अपनी सेना हृष्ट-पुष्ट-सन्तुष्ट हो, और शत्रुसेना दुर्बल तथा असंन्तुष्ट हो तब भी युद्ध करना चाहिये। जब सेना, वाहन और कोष क्षीण हो तो शत्रु से समझौते की बातचीत करते हुए अपने दुर्ग में ही रहना चाहिये। जब राजा देखे शत्रु कि बलवान् है, तब अपनी सेना का दो विभाग कर एक विभाग लड़ाई पर भेजे और एक विभाग को शत्रु की सेना में भेजकर शत्रु-सेना के लोगों को अपनी ओर मिला लेना चाहिये। यदि राजा देखे कि शत्रु अब हमें जीत लेगा, तो झट किसी ऐसे बलवान् धर्मात्मा राजा का आशय ले ले जो अपनी दुष्ट प्रजा और शत्रु को भी दण्ड दे सकता हो तथा गुरु के समान प्रत्येक प्रकार से उसकी सेवा करनी चाहिये। यदि उसका आशय लेने पर भी कोई लाभ न हो, अपितु हानि होने की ही सम्भावना हो, तो बेखटक के युद्ध ही करना चहिये। गुण-दोष विचार कर भविष्य का निर्णय करनेवाले, वर्तमान-निर्णय में विलम्ब न करनेवाले तथा भूतकालिक शेष कार्य को शीघ्र पूर्ण करनेवाले राजा को शत्रु, मित्र या उदासीन अभिभूत नहीं कर सकते।

## कार्यदेश विधि

मनु ने राजा का यद्यपि बहुत महत्त्व माना है, फिर भी उसे निरङ्कुश नहीं बतलाया। सर्वप्रथम राजा पर ही धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है। राजा के हाथ में जो दण्ड होता है, वह दूसरों पर ही नियन्त्रण नहीं करता वरन् धर्मविरुद्ध राजा को भी नष्ट कर डालता है, यह पीछे कहा जा चुका है। शुक्र के अनुसार भी राजा के लिये आमात्यों की अत्यन्त आवश्यकता कही गयी है। जो राजा मन्त्रियों के मुख से हिताहित की बात नहीं सुनता, वह राजा के रूप में प्रजा का धनहरण करनेवाला डाकू होता है—

**हिताहितं न शृणुते राजा मंत्रिमुखाच्च यः।**
**स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः।।**

शुक्र के अनुसार राजा को राज्य का कार्य चलाने के लिए पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्रतिनिधि, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य, दूत—इन दस प्रतियों का संग्रह आवश्यक है। इनकी योग्यता एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन शुक्रनीति में हैं। किसी भी शासन-लेखपर मन्त्री आदि की स्वीकृति होनी चाहिये। उस पर मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित और दूत को यह लिखना चाहिये कि हमारी सम्मत्ति से लिखा गया है; आमात्य को लिखना चाहिये कि यह ठीक लिखा गया है, सुमन्त्र को लिखना चाहिये कि इसपर पूर्ण विचार कर लिया गा है, प्रधान को लिखना चाहिये कि यह यथार्थ सत्य है, प्रतिनिधि को लिखना चाहिये कि यह अङ्गीकार करने योग्य है, युवराज लिखे कि यह स्वीकृत किया जाय, तब पुरोहित अपना मत लिखे कि यह मुझे सम्मत है। सबके अन्त में राजा लिखे कि यह स्वीकृत हुआ। अपने लेख के अन्त में सबकी मुहर लानी चाहिये—

**मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः।**
**स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे।।**
**अमात्यः साधुलिखितमस्त्वेतद् प्राग् लिखेदयम्।**
**सम्यग्विचारितमिति सुमन्त्रो विलिखेत्ततः।।**
**सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत् स्वयम्।**
**अङ्गीकर्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत्।।**
**अङ्गीकर्तव्यमिति च युवराजो लिखेत् स्वयम्।**
**लेख्यं स्वाभिमतं चैतद् विलिखेच्च पुरोहितः।**
**स्वस्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि।।**

(शुक्रनीति २।३५५-३५९)

मन्त्रिमण्डल के लेखबद्ध युक्तिसहित पृथक मतों को लेकर विचार करना चाहिये। फिर जो बहुमत हो उसे स्वीकार करना चाहिये—

**पृथक्पृथङ्ग मतं तेषां लेकयित्वा ससाधनम्।**
**विमृशेत् स्वमतेनैव कुर्याद् यद् बहुसम्मतम्।।**

जो राजा प्रकृति की बात नहीं सुनता, वह अन्यायी है। जो प्रजा का रक्षक बनकर भी रक्षा नहीं करता, उस राजा को पागल कुत्ते के समान मार

देना चाहिए—

**अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।**
**स संहत्या निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः।।**

इस तरह भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृङ्खल नहीं होता था।

आज के लोकतन्त्र-शासन का आधार मुण्ड गणना है। इसके अनुसार योग्य शासकों का संग्रह कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी हो जाता है। बहुमत जिसे प्राप्त हो, उसी के हाथ में शासनसूत्र आ जाता है। विधान-सभा एवं लोकसभा का काम है विधान या कानून का निर्माण करना। फिर स्थिति यह है कि भारत में सैकड़ों नहीं हजारों विधानसभायी मेम्बर इस प्रकार के हैं जो कानून से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनका अपना मुकदमा होता है तो वे रुपया खर्चकर अन्य वकीलों का सहारा लेते हैं; परन्तु वे ही राष्ट्र के लिए कानून बनाते हैं।

साधारण तौर पर भारतीय राजनीतिशास्त्रों वेदों एवं मन्वादि धर्मशास्त्र को ही राष्ट्र का संविधान एवं कानून मानते हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्रज्ञो एवं सदाचारी धर्मनिष्ठ विद्वानों की परिषद् विधान-निर्मात्री है, विधान निर्मात्री नहीं। शासन-परिषद् की सहायता से राजा शास्त्रानुसारो विधान द्वारा शासन करता है। राजा या शासक, वह चाहे जन-प्रतिनिधि हो या कुल-परम्परागत राजा, उसका परम कर्तव्य है कि वह पहले अपने-आपको शास्त्रज्ञ एवं आचार्यों की शुश्रूषा द्वारा विनय से युक्त बनाये। पुनः अपने पुत्रों, मन्त्रियों को विनययुक्त बनाये, पश्चात् भृत्यों एवं प्रजा को विनययुक्त बनाये—

**आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।**
**ततः पुत्रांस्ततोऽमात्यान् ततो भृत्यान् ततः प्रजाः।।**

(शुक्रनी० १।९२)

राजा को व्यसनमुक्त होना चाहिये। कठोर भाषण, उग्र दण्ड, अर्थ-



दूषण, सुरापान, स्त्री, मृगया और द्यूत—ये राजा के लिये भीषण व्यसन हैं। पीछे अष्टादश व्यसनों की चर्चा आयी ही है—

**वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च।**
**पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः।।**

(कामन्दकीयनीतिसार १४।६)

मन्त्री के लिये भी ये सब दूषण हैं। आलस्य, स्तब्धता, घमण्ड, प्रमाद, वैरकारिता आदि ये और भी मन्त्री के व्यसन हैं। दक्षता, शीघ्रता अमर्ष, शौर्य एवं उत्साह आदि गुणों से युक्त ही राजा होना चाहिये—

**दाक्ष्यं शैघ्र्यं तथामर्षः शौर्यं चोत्साहलक्षणम्।**
**गुणैरेतैरुपेतः सन् राजा अवितुमर्हति।।**

(कामन्दकीयनीति ४।२३)

मन्त्रियों के उपयोगी और भी बहुत से गुण कहे गये हैं। जिनके बिना शासन करने की योग्यता ही नहीं हो सकती है।

**स्वावग्रहो जानपदः कुलशीलबलान्वितः।**
**वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान्।।**
**स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः।**
**सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुक्तः ।।**
**कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः।**
**दृढभक्तिरकर्ता च वैराणां सचिवो भवेत्।।**
**स्तुतिस्तत्परतार्थेषु वितर्को ज्ञाननिस्चयः।**
**दृढ़ता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्तिता।।**

(कामन्दकीयनीति० ४।२८-३१)

आत्मनियन्त्रित, स्वदेशस्थ, कुलीन, शीलवान् बलवान, वाग्मी, निर्भीक, शास्त्रज्ञ उत्साही, प्रत्युत्पन्नमति, निरभिमान, अचञ्चल, मैत्रीवर्धक

सहिष्णु, पवित्र, धैर्य-स्थैर्य-सत्य एवं सत्त्व से युक्त, प्रतापी, नीरोग शिल्पज्ञ, दक्ष, बुद्धिमान, धारणावान, स्वामिभक्त तथा उससे कभी वैर-विद्वेष न करने वाला सचिव होता है। स्मृतिमान, पुरुषार्थ-तत्पर, विचारशील निश्चित ज्ञान वाला, दृढ़ता, मन्त्रगुप्ति, क्षमता आदि गुणों से युक्त मन्त्री हो। मन्त्रियों की योग्यता राजा को स्वयं प्रत्यक्ष देख कर, परोक्ष (परोपदेश) तथा अनुमान से (कार्य देखकर यह जाना लेना कि कितना कार्य नहीं किया) जाननी चाहिये—

**'प्रत्यक्षपराक्षानुमेया राजवृत्तिः। स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम्। परोपदिष्टं परोक्षम्। कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम्।'**

(कौ० अर्थ० १।९।११-१३)

वाद, जल्प, वितण्डा, रूप कथा के प्रसङ्ग से मन्त्री को प्रगल्भता, निर्भीकता, प्रतिभा एवं वाक्-कुशलता को जाना जाता है। उसी प्रसङ्ग से सत्यवादिता का भी पता लग जाता है। अवैरकारिता, भद्रता, क्षुद्रता का ज्ञान भी प्रसङ्गवशात् प्रत्यक्ष से ही जना जा सकता है। आपत्ति के समय उत्साह, प्रभाव तथा क्लेश सहिष्णुता, धैर्य, अनुराग, स्थिरता का परिज्ञान होता है। भक्ति, मैत्री तथा स्थिरता का परिज्ञान व्यवहार से करना चाहिये—

**उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम्।**
**धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चापदि लक्षयेत्।।**
**भक्ति मैत्रीं च शौचं च जानीयाद् व्यवहारतः।**

(कामं० नीतिसार ४।३७-३८)

मन्त्री की शास्त्रज्ञता एवं शिल्पज्ञता तत्-तद् विद्याओं के विद्वानों से जानना चाहिये। उसके स्वजनों से कुल, स्थान एवं संयम का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। कर्म में प्रयुक्त कर दक्षता, विज्ञान एवं धारयिष्णुता की परीक्षा होती है। सहवासियों, पड़ोसियों से उसके बल, सत्त्व (शक्ति),



आरोग्य, शील, अस्तब्धता एवं अचापल्य का ज्ञान हो सकता है। दारुण कुछ उत्पन्न होने पर उसकी कुलीनता का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि दारुण अवसर पर ही स्वचछ् हृदय कुलीन अपनी विशेषता को दिखलाता है—

**साधुतैषाममात्यानां तद्विद्येभ्यस्तु बुद्धिमान्।**
**चक्षुष्मत्तां च शिल्पं च परीक्षेत गुणद्वयम्।।**
**स्वजनेभ्यो विजानीयात् कुलं स्थानमवग्रहम्।**
**परिकर्मसु दाक्ष्यं च विज्ञानं धारयिष्णुताम्।।**
**गुणत्रयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा।**
**संवासिभ्यो बलं सत्त्वमारोग्यं शीलमेव च।**
**अस्तब्धतामचापल्यं वैरिणां चापि कर्तृताम्।।**
**समुत्पन्नेषु कृच्छ्रेषु दारणौष्वप्यसंशयम्।**
**दर्शयत्यच्छहृदयः कुलीनश्चतुरस्रताम्।।**

(कमं० नी० ४।३४-३६; ६९)

आचार्य, संत, महात्मा और विद्वान् ही विद्याओं के प्रकाशक, प्रवर्तक तथा संचालक होते हैं। राजा भी विद्वानों से ही राजनीति का विज्ञान प्राप्त करता है। इसीलिये स्वराज्य की स्थापना में मित्र-लाभादि से भी प्रथम विद्या-चिन्तन का ही निर्देश किया गया हैं, क्योंकि सम्पूर्ण लोकस्थिति ही विद्या पर निर्भर होती है।

**तत्रायं प्रथमोपायः यद् विद्यावद्धैः सार्धं विद्याचिन्ता। विद्याप्रतिअङ्कत्वाल्लोकस्थितेः।।** (नीतिवाक्यमृत)

राजा को सक्रिय विद्वानों के साथ बैठकर विनययुक्त होकर आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ताएवं दण्डनीति का विचार करना चाहिये—

**आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिं च पार्थिवः।**
**तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद् विनयान्वितः।।**

(का० नी० २।१)

वात्स्यायन ने भी भूमि, हिरण्य, पशु, धान्य, भाण्डोपस्कर मित्रादि के पहले विद्या के ही उपार्जन एवं वर्धन को अर्थ माना है—**'विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जितस्य विवर्धनमर्थः'।**
(वात्सया० कामसूत्र १।२।९)

मधुकर की वृत्ति सेराजा का संगृहीत कोष भी अपने उपभोगार्थ न होकर प्रजाहितार्थ ही होना चाहिये। शास्त्रधर्मनियन्त्रित शासन ही राम-राज्य है। इसमें प्रजा की रुचि तथा सम्मति का पूरा ध्यान रखा जाता है, तथापि शास्त्र एवं धर्मविरुद्ध बहुमत के आधार पर कोई अनर्थ नहीं किया जाता। फिर भी जहाँ अनेक जाति-उपजाति तथा सम्प्रदाय के लोग बसते हों, वहाँ सबके धर्म, संस्कृति की रक्षा होनी चाहिये। किसी के देवस्थान, धर्मग्रन्थ, आचार्य एवं आचार-व्यवहार की अवहेलना कदापि न होनी चाहिए। सभी के धर्म का निर्णय उन-उन सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों तथा धर्माचार्योंपर ही छोड़ा जाना चाहिए। शासन का उसमें हस्तक्षेप न होना चाहिये। राष्ट्र के परमोपकारक गोवंश का सभी दृष्टि से पालन होना चाहिये। उसका वध सर्वथा अवरुद्ध होना रामराज्य की विशेषता है।

देश को सर्वथा अखण्ड रखना चाहिये। प्रान्तों या राज्यों को अपने घरेलू मामलों में स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। पर राष्ट्रहित के व्यापक कार्य में सम्पूर्ण देश की एक नीति रहनी चाहिये। राजा या राष्ट्रपति किंवा शासन-परिषद् के नीचे आठ विद्वानों की एक परिषद् होनी चाहिये। ये विद्वान् वेद, धर्मशास्त्र, राजनीति, समाजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि विद्याओं तथा विविध भाषाओं एवं देशविदेश की नीति के वेत्ता हों। यदि सभी सब विषयों के ज्ञाता न भी हों तथापि पूरी परिषद् मिलकर उपर्युक्त विषयों की पूरी जानकारी अवश्य रखे। परिषद् के सदस्य अपनी सहायता के लिये पृथक-पृथक परामर्श समिति भी रख सकते हैं। प्रजा की सम्मति, रुचि तथा आन्तरिक स्थिति एवं शासनप्रणाली के सुपरिणाम, दुष्परिणाम जानने



के लिये एक लोकसभा होनी चाहिये। उसके सदस्य प्रजाप्रिय हों। उन्हें प्रजा की सम्मति से उपर्युक्त अमात्य परिषद ही नियुक्त करेगी। मुण्डगणना के आधार पर यह कार्य न होना चाहिये।

राजा, प्रजा, अमात्यमण्डल सभी में ईश्वरपरायणता और धर्मनिष्ठा होने से शासनव्यवस्था ठीक चल सकेगी। वैसा न होने से छल, कपट तथा मिथ्या आचरण का ही बोलबाला रहेगा। धर्मनिष्ठा के बिना कानून की वञ्चना की जाती है। परन्तु यदि धर्मनिष्ठा है, तो अपराधी स्वयं अपराध व्यक्त करके शुद्धि के लिये दण्ड माँगता है। भारत में आजभी गोहत्या आदि होने पर अपराधी 'मिताक्षरा से' व्यवस्था माँगने स्वयं जाता है। वैसे तो सभी को धर्मात्मा तथा ईश्वर विश्वासी होना चाहिये। विशेषकर अमात्यमण्डल और उससे भी अधिक राजा को वैसा अवश्य होना चाहिये। गुणवान् पुरुष थोड़े होने से दुर्लभ होते हैं। अतः जहाँ तक हो सके, अधिकार थोड़े ही लोगों के हाथ में होने चाहिये इसीलिये राजा और अमान्यों का हर समय बदलते रहना ठीक नहीं, यहीराजतन्त्र का अभिप्राय है। युद्ध आदि के समय लोकतन्त्र में भी एकही के हाथ में अधिकार देने पड़ते हैं। अधिक लोगों की अपेक्षा थोड़े लोगों को साधु-सज्जन बनाने में सरलता होती है। यदि वंशपरम्परा का राजा हो, तो वह अपने ऊपर अधिक जिम्मेदारी का अनुभव करता है। अतः यथासम्भव वैसा ही राजा होना चाहिये। यदि वैसा न मिले, तो किसी योग्य व्यक्ति को राष्ट्रपति बनाना चाहिये। शीघ्र बदलते रहने से किसी योग्य व्यक्ति को भी अपनी नीति कार्यान्वित करने का पूरा समय नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति को थोड़े ही दिनों में स्वार्थसिद्धि की चिन्ता लग जाती है, जिससे प्रजा के कल्याण में बाधा पड़ती है। अतः यह आवश्यक है कि राजा या राष्ट्रपति को जीवन-पर्यन्त या दीर्घकाल के लिये नियुक्त किया जाय। किन्तु कर्तव्यच्युत होनेपर उसको हटाना आवश्यक है। राजा के स्थान की पूर्ति उसका योग्य उत्तराधिकारी न होने पर मन्त्रियों द्वारा होनी चाहिये। मन्त्रिमण्डल में किसी की मृत्यु होने अथवा किसी के हटाने पर

शेष मन्त्रियों के परामर्श से राजा को नयी नियुक्ति करनी चाहिये।

राजा, अमात्य, कोष, सेना और न्याय—ये राज्य के पाँच मुख्य विषय हैं। ग्राम, मण्डल, प्रान्त के भेद से उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिये। कोष के लिये सर्वत्र कर-संग्रह-विभाग रहने चाहिये। रक्षा-विभाग तथा न्यायविभाग की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिये। रक्षा के लिए सेना दो प्रकार की होनी चाहिये। एक वह जो प्रतिदिन की शान्ति स्थापित रखे अर्थात् पुलिस और दूसरी वह, जो विशेष अवसर पर शत्रु के साथ युद्ध करे। न्यायालय प्रत्येक विभाग के लिये पृथक-पृथक होना चाहिये। मण्डल और प्रान्त में बड़े-बड़े न्यायालय और सम्पूर्ण राष्ट्र का एक सर्वोच्च न्यायालय होना चाहिये। अन्तिम न्यायालय में अमात्यमण्डल तथा राजाको न्याय करने का अधिकार होना चाहिये। न्यायाद्यक्ष के पद पर धर्मात्मा, विद्वान् तथा सदाचारी व्यक्तियों की ही नियुक्त होनी चाहिये। सम्पूर्ण स्थिति का पूर्ण परिचय रखने के लिये गुप्तचरविभाग होना चाहिये। उसका कार्य केवल अधिकारी या राजा के विरोधियों का पता लगाना ही नहीं, किन्तु लोकसेवी, परोपकारी, सदाचारी विद्वानों तथा दुखी आर्तों के सम्बन्ध में भी सरकार को सूचित करते रहना चाहिये, जिससे निग्रहामुग्रह आदि में पुरी सहायता मिल सके। कोष का उपयोग उपर्युक्त विभाग के संचालन, शस्त्रास्त्रनिर्माण तथा संग्रह, यातायात-साधनों का निर्माण तथा व्यवस्था और राष्ट्र के स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदि में होना चाहिये प्रचार, यातायात, परराष्ट्रसम्बन्ध एक विभाग से, डाक, तार, शिक्षा, स्वास्थ्य दूसरे से और उद्योग, खाद्य आदि तीसरे विभाग से संबद्ध हों तो अच्छा है। इसी तरह कोष: न्याय एवं सेना की व्यवस्था होनी चाहिये। आजकल एक सबसे बड़ा विभाग व्यवस्थापन का अर्थात् कानून बनाने का है, जिसके लिये धारासभाओं का निर्वाचन होता है। परन्तु अपने यहाँ तो उसकी आवस्यकता ही नहीं। केवल विशिष्ट विद्वानों की एक निर्णेत्री-परिषद होनी चाहिये जो मनु, याज्ञवल्कय,



बृहस्पति, नारद, अङ्गिरा, पाराशर आदि के मतानुसार ठीक-ठीक व्यवस्था दे सके। अहिन्दुओं के लिए उनके धर्मशास्त्रानुसार उनके आचार्यों की व्यवस्था होनी चाहिये। भारतीय धर्मसास्त्र और राजनीति के सम्यक विद्वान् ही व्यवहार में शास्त्रार्थ के अधिकारी होंगे। व्यवहार निर्णायक न्यायाध्यक्ष स्वधर्मनिष्ट एवं ईश्वर-विश्वासी होना चाहिये। अमात्यमण्डल को राजा के आज्ञानुसार सभी कर्मचारियों के नियोजन, पृथक्करण, संसोधन आदि का अधिकार होना चाहिये। गुप्तचरों के अतिरिक्त विशिष्ट व्यक्तियों की एक अन्वेषण-समिति द्वारा जटिल विषयों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिये। अमात्यमण्डल के सदस्य और राजा सर्वसाधारण के लिये दुर्दुर्श, दुर्लभ न होकर सुदर्श और सुलभ रहें, जिसमें प्रजा उनसे अपनी स्थिति निवेदन कर सके। ऐसे अनेक स्थान होने चाहिये, जहाँ नियत समय पर अर्थी आकर अमात्यों या राजा से मिल सकें। मन्त्री तथा राजाओं को भी गुप्त वेष से प्रजा की स्थिति तथा राजकर्मचारियों का व्यवहार जानना चाहिये। इस मार्ग से गुप्त तथा जटिल रहस्यों का भी पता लग सकता है। हिंसा मद्यपान, व्यभिचार, द्यूत आदि पर कड़ा नियन्त्रण होना चाहिये। प्रत्येक पद पर सच्चे और शुद्ध अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिये। पुलिस प्रजा की सेवक बनकर नम्रतापूर्वक काम करे पर साथ ही दुष्ट दमनार्थ आवश्यक उग्रता का निषेध न होना चाहिये। प्राचीन ढंगपर ग्रामपंचायतें विधिपत् स्थापित होनी चाहिये। आपसी झगड़े वहीं तय हुआ करें, जिसमें न्यायालय जाने की आवश्यकता ही न पड़े। पंचायतों का काम ठीक होता है या नहीं, इसकी देख-रेख के लिये एक निरीक्षक-विभाग होना चाहिये। क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में यथासम्भव ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि अन्नवाले अन्न, तेल वाले तेल, गुड़ वाले गुड़ दें। नाई, धोबी आदि अपना काम करें, जिसके बदले में उन्हें अन्न मिले। यथासम्भव नकद क्रय-विक्रय के स्थान पर वस्तु विनिमय होना चाहिये और जिसका जो परम्पराप्राप्त व्यवसाह है, उसे वही करना चाहिये। इस तरह परस्पर संबंध स्थापित रखने में सुविधा होगी। जहाँ तक हो प्रजा को विशुद्ध क्षत्रियवंश

का राजा, विद्वान ब्राह्मण पुरोहित तथा महामात्य बनाना चाहिये। न्यायाध्यक्ष तथा अध्यापक के पद पर भी ब्राह्मणों की ही नियुक्ति होनी चाहिए। सेनापति के पद पर पवित्र वीर क्षत्रिय तथा सैनिक भी अधिकतर कुलीन क्षत्रिय ही होने चाहिये। कोषाध्यक्ष वैश्य तथा सेवाध्यक्ष शुद्र होने चाहिये। चर्म के व्यापारों तथा यन्त्रों के अध्यक्ष चर्मकार होने चाहिये। शुचिता (सफाई) विभाग का अध्यक्ष अन्त्यज होना चाहिये। इसी तरह प्राय: सभी यन्त्र शिल्प, कल-कारखाने आदि पर शुद्रों का ही प्रधान्य रहना चाहये सर्वसाधारण के व्यवहार में आनेवाली राष्ट्र की भाषाहिन्दी होनी चाहिये पर विशिष्ट विवरणों में संस्कृत का प्रयोग आवश्यक है।

राजा को उदार, सौम्य, धार्मिक, निर्व्यसन, विद्वान, शुद्ध तथा रहस्यज्ञ होना चाहिये। उसे वेदान्त, न्याय तथा दण्डनीति का विद्वान् और अपने दोषों का ज्ञाता होना चाहिये। कोई काम करने के पहले उस पर उसे स्वयं तथा मन्त्रियों के साथ एकान्त में अच्छी तरह विचार करना चाहिये। किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य में शुभ मुहूर्त्त नीति और आतर्वणिक प्रयोगों का उपयोग किया जा सकता है। अच्छा तो यह है कि राजा योग्य व्यक्तियों द्वारा श्रौत-स्मार्त्तकर्मों का अनुष्ठान करता रहे। राजा का कर्तव्य है कि वह अप्राप्तधन, भूमि आदि वस्तु धर्ममार्ग से प्राप्त करे, प्राप्त की रक्षा करे तथा उन्हें बढ़ाये और फिर उन्हें पात्रों में प्रदान भी करे। दत्त वस्तुओं का आगामी राजाओं द्वारा भी पालन होता रहे, इसलिये दानप्तर आदि का उचति उल्लेख होना चाहिये। राजधानी ऐसे प्रदेश में होनी चाहिये जो रम्य हो और जहाँ मनुष्यों के लिये अन्न तथा पशुओं के लिये चारा पर्याप्त मिल सके। वहाँ विस्तृत दुर्ग (किला) बनवाना चाहिये, जिसमें जन, धन की पूर्ण रक्षा हो सके। राजा को चाहिये कि वह विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील, शत्रुओं के प्रति क्रोधयुक्त और भृत्यवर्ग तथा प्रजाओं के प्रति पिता के सामन हो। प्रजा के पुण्य का छठा भाग राजा को मिलता है, अत: न्याय से प्रजा का पालन ही राजा के लिये सबसे बड़ा धर्म और दान है। अन्यायियों से ठीक रक्षा न कर सकने के कारण प्रजा के पापों का आधा भाग राजा को



मिलता है, अत: उसे सदा सावधान रहना चाहिये।

राजनीति के अयोग्यों, नास्तिकों के हाथ में जाते ही, विद्वानों के भी मुँह बन्द हो जाते हैं। शुक्राचार्य के पुत्र शण्डामर्क-जैसे योग्य विद्वान भी हिरण्यकशिपु-जैसो को ही ईश्वर बतलाने लगते हैं। वे किसी अयोग्य शासक को भी **त्वमर्कस्त्वं सोमः** (शिवमहिम्न०) कहने लगते हैं। शासकों से भयभीत विद्वान् स्पष्ट सत्य कहने में हिचकने लगते हैं। आचार्य, साधु-संत भी या तो चुप साध लेते हैं, या सरकारी साधुसमाज में प्रविष्ट होकर ईश्वर-गुणगान के बदले सरकार का गुणगान करने लगते हैं। गोहत्या, धर्म हत्या, शास्त्र-हत्या-जैसे जघन्य कुत्यों को होते देखकर भी वे मौन रह जाते हैं और इन सबके प्रवर्तक, प्रेरक सरकार का गुणगान करते हैं। रावण की माया से बने अनेकों हनुमान देखकर जैसे बन्दर भ्रम में पड़ गये कि इनमें से कौन राम के हनुमान हैं, कौन रावण के हनुमान, उसी तरहजनता भी भ्रम में पड़ जाती है कि कौन राम के साधुसंत हैं और कौन सरकारी साधु संत? शास्त्र एवं धर्म के नियन्त्रणशून्य उच्छृङ्खल शासक जनता के धर्म के साथ धन का भी अपहरण कर लेते हैं। राष्ट्रियकरण, समाजीकरण आदि नामों से जनता की व्यक्तिगत भूमि सम्पत्ति आदि छीन लेते हैं। जनता के व्यक्ति शासनयंत्र के नगण्य पुर्जे बन जाते हैं। शासनयन्त्र तानाशाह शासकों के हाथ का खिलौना बन जाता है। उच्छृङ्खल शासकों की इच्छा ही कानून-कायदा बन जाती है। सनातन सत्य न्याय, विवेक, शास्त्र-सब लुप्त हो जाते हैं। धनहीन होने के कारण जनता में ऐसे शासन के विरोध की भी शक्ति नहीं रह जाती। आज के सरकारी साधुसमाज का यह प्रस्ताव कि 'साधुसमाज गोहत्याबन्दी आन्दोलन का समर्थन नहीं कर सकता; क्योंकि वह ऐसे अपराधी साधुओं द्वारा चलाया गया है जिनसे साधु-समाज की सत्ता को बहुत ठेस पहुँची है' आँख खोल देनेवाला है। विश्वनाथ मन्दिर हरिजन प्रवेश, हिन्दू विवाह, तलाक आदि प्रश्नों पर सरकारी साधुओं एवं सरकारी पण्डितों का चुप रहना भी एक विचित्र बात है। आचार्य कहे जाने वाले लोगों की भीषण निद्रा या जान-बूझ कर आँखे मीचने की बात भी इसी ओर संकेत करती है कि राजनीति के विप्लुप्त होने के बाद सब

विद्याएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

## राजनीति में अधिकार

कई लोग कहते हैं कि विद्वानों, महात्माओं को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिये, पन्तु राजनीति का विद्वान् होना चाहिये। वे समारोह के साथ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं राजनीति का विद्वान् होना ही विद्वान का अन्तिम कृत्य है, पर प्रत्यक्ष राजनीति में भाग लेना नहीं। वे समर्थ रामदास और चाणक्य की प्रशंसा करते हुए भी उनके कर्तृत्व को दुर्लक्ष्य करते हैं। वे लोग 'मज्जेत् त्रयी दण्नीतौ हतायाम्' (म० सां० ६३।२८) का भी यही अर्थ करते हैं कि 'राजनीति के जाने बिना त्रयी डूब जाती है'। पर 'दण्डनीति' का 'दण्डर्न‌ीतेज्ञान' अर्थ करना असङ्गत है। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि ब्रह्मज्ञान से भिन्न सभी ज्ञान पराङ्ग ही होते हैं, स्वतन्त्र नहीं। भट्टपादकुम रिल का स्पष्ट कहना है कि **'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। रराङ्ग चात्मविज्ञायादन्यमित्यवधार्यताम्।।** (तन्त्रवार्तिक)

पीछे कहा गया है कि सक्रिय विद्वानों से ही राजा को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति का विचार करना चाहिये— **सद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेत्**' (का० नी० २।१)

ब्रह्मात्मविज्ञान तो स्वसत्तामात्र से अविद्या, तत्कार्य्य का निवर्तक होने से पुरुषार्तरूप है। ऐसे कतिपय स्थलों को छोड़कर अन्यत्र ही ज्ञान कर्तृत्त्व के बिना सफल नहीं होता। **'जानाति इच्छति अथ करोति'** यह क्रम प्रसिद्ध है। जानने से इच्छा होती है, इच्छा से क्रिया होती है। **'यः क्रियावान् स पण्डितः** (सुभा० भं०) की कहावत प्रसिद्ध ही है। प्रयोगहीन शिल्पविज्ञान एवं शस्त्रादिविज्ञान के तुल्य प्रयोगहीन राजनीति-विज्ञान भी व्यर्थ ही रहता है। क्रियाहीन तर्क-वितर्क एवं ज्ञान-विज्ञान, बुद्धि-व्यायाममात्र ही रह जाता है।

रावण के समय में ज्ञान-विज्ञानवाले ऋषियों की कमी न थी। फिर भी ऋषियों का वध चालू था। रत्तघट का उपहार देने पर भी रावण को



संतोष नहीं हुआ था। ऋषियों की अस्थियों का पहाड़ लग गया था।

**अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया।।**
**निशिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए।।**

(रामचरितमानस अरण्यकाण्ड)

उस समय विश्वामित्र की सक्रिय राजनीति ही सफल हुई। उसी के द्वारा राम मैदान में आये और दुष्टों का दर्प-दलन करके त्रयी-धर्म की रक्षा एवं साधु-सत्पुरुषों का पोषण किया। हाँ, जहाँ राजनीति के योग्य प्रयोक्ता एवं प्रयोग-साधन ठीक उपलब्ध हों, वहाँ विद्वान् केवल उपदेशमात्र कर सकता है; परन्तु जहाँ प्रयोक्ता, प्रयोग-साधन नहीं, वहाँ उनका अन्वेषण एवं निर्माण भी विद्वान् का ही काम है। राजा के अभाव में यह सब उत्तरदायित्व विद्वान् पर ही आता है। 'चाणक्य' ने यही सब किया था, समर्थ रामदास ने भी यही किया। शुक्र, बृहस्पति आदि भी अनेक ढंग से सक्रिय राजनीति का प्रवर्तन करते थे। हाँ, विद्वान् राज्याधिकार के प्रलोभन में न पड़ें, यह अवश्य ठीक है। अतः ठीक राजनीति बिना त्रयी एवं तत्प्रोक्त धर्म संकटग्रस्त हो जाता है।

**प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।**
**ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः।।**

(मनुस्मृ० ९।३२७)

प्रजापति ने सृष्टि रचकर वैश्यों को पशु दिया, ब्राह्मण एवं राजाको सारी प्रजा दी। अतः राजाके अभाव में विद्वानों पर सर्वाधिक भार आ जाता है। विद्वान् आस्तिक, सद्गृहस्थ एवं साधु-सत्पुरुषों के बिना राजनीति सर्वथा उच्छृङ्खल लोगों के हाथ में चली जाती है, फिर तो गुण्डागर्दी का ही शासन होने लगता है। अतः धार्मिक लोगों के प्रवेश से ही समस्या हल हो सकती है। यह ठीक है कि 'सच्छिक्षा एवं सद्विद्या के प्रचार से सद्बुद्धि होती है, सद्बुद्धि से सदिच्छा एवं सदिच्छा से सत्प्रयत्न होता है और

सत्प्रयत्न ही सब प्रकार के सत्फलों का स्रोत होता है। परन्तु आज तो शिक्षा भी स्वतन्त्र विद्वानों के हाथ में नहीं है। जिस विचार के शासक हैं, उसी विचार का समर्थन करने वाली आज की शिक्षा बनती जा रही है। स्वतन्त्र विद्यालय एवं उनके छात्र भी सरकारी-शिक्षा के प्रभाव से स्पष्ट ही प्रभावित हैं। कथावाचक, मण्डलेश्वर आदि भी उसी ढंग की कथा कहने में लाभ का अनुभव करते हैं। घोर नास्तिक उच्छृङ्खल मिनिस्टरों, सरकारी पदाधिकारियों की भी विद्वान्, महन्त, मण्डलेश्वर प्रशंसा करते फिरते हैं। इस दृष्टि से नास्तिकों के हाथ सो राजनीति का उद्धार करना योग्य धार्मिक, सुशील लोगों के हाथ में राजनीति लाने के लिये विद्वान् प्रयत्न अत्यावश्यक है ही महाभारत का स्पष्ट वचन है—

**क्षात्रों धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्यो शेषभूताश्च धर्माः।।**

(महा० शां० ६४।२१)

परमेश्वर से सर्वप्रथम राजधर्म का ही आविर्भाव हुआ। उसके पीछे राजधर्म के अङ्गभूत अन्य धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। अतः राजधर्म—राजनीति के नष्ट होने पर त्रयीधर्म के डूब जाने की बात आती है अराजकता या उच्छृङ्खल राजा के धर्म हीन अधार्मिक राज्य में कोई धर्म पनप ही नहीं सकता। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लौकिक-पारलौकिक, अभ्युदय एवं निःश्रेयस के सम्पादन में होने वाले सब प्रकार के विघ्नों को रोक कर सब प्रकार की सुविधा उपस्थित करना भारतीय राजधर्म, राजनीति या क्षात्र-धर्म का मूलमन्त्र है।

भले ही कभी राजनीति राजाओं, राजमन्त्रियों एवं राजकीय पुरुषों तक ही सीमित रहे; उसमें सर्वसाधारण का प्रवेश आवश्यक भी ठहरे, तब भी विशिष्ट विद्वानों के लिये तो कभी भी राजनीति उपेक्ष्य नहीं रही है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वको लौकिक-पारलौकिक विनाश से बचना उनको अभ्युदय, निश्रेयसमप्राप्ति से वंचित होने से बचाना क्षात्र या राजा का धर्म है। वही क्षात्रधर्म है, वही राजनीति है। इसलिये राजा की



प्रशंसा है—

**'नाराणां च नराधिपम्'** (गी० १०।२७) **'नाविष्णुः पृथिवीपतिः।'** (दे० भा०) **'महती देवता ह्योषा नररूपेण तिष्ठति।'** (मनु ७।८)

'राजा ईश्वररूप है, नरों में नराधिप ईश्वरीय विभूति है, विष्णु से अतिरिक्त पृथ्वीपति नहीं हो सकता, वह कोई मनुष्यरूप में विशेष दिव्य शक्ति है इत्यादि। इस प्रकार के राजधर्म का पालन श्रुताध्ययन सम्पन्न धर्मज्ञ, सत्यवादी, रागद्वेष विहीन, विद्वानों की सहायता बिना राजा भी नहीं कर सकता। इसलिए राजा के लिए आवश्यक है कि वह ऐसे विद्वानों को अपना सभाशद बनाये—

**श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।**
**राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः।।**

(याज्ञवल्क्यस्मृति २।२)

शासनारुढ़ शासक की भूल या प्रमाद को रोकने के लिये परम निरपेक्ष विरक्त विद्वान् भी लोककल्याण-कामना से राजनीति में हस्तक्षेप करते थे। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वेन-जैसे अन्यायी राजाको, जो समझाने-बुझाने से भी न माने, शासनाधिकार से च्युत या नष्ट भी कर देते थे एवं उनके स्थान में पृथु-जैसे योग्य शासक को प्रतिष्ठित करते थे। यह भी लोक-कल्याणार्थ विद्वानों के राजनीति में हस्तक्षेप का उदाहरण है। 'इतिहास' बतलाता है कि संसार के प्रमुख राजनीतिज्ञ शासकों ने अपनी राजनीति का वागडोर तपःपूत, लोक-हितैषी, राज-द्वेषविहीन ऋषियों के ही हाथ में दे रखा था। देवराज इन्द्र की राजनीति देवगुरु बृहस्पति के हाथ में थी, दैत्यराज बलि की राजनीति महर्षि शुक्राचार्य के हाथ में थी तथा रामचन्द्र की राजनीति वसिष्ठ के हाथ में थी। धर्मराज युधिष्ठिर की राजनीति महर्षि चाणक्य के हाथ में थी तथा शिवा की राजनीति भी समर्थ रामदास के हाथ में थी। वस्तुतः जैसे बिना अंकुश के हस्ती, बिना लगाम के घोड़ा आदि हानिकारक होते हैं, वैसे ही अंकुश एवं नियन्त्रण के बिना

शासन भी हानिकारक होता है। राज्यश्रीसम्पन् राजा पर भी अंकुश होना ही चाहिये। इसी शर्त में राजा पर धर्म का नियन्त्रण होना चाहिये। यही बृहदारण्यक **'क्षत्रस्य क्षत्रम्'** (१।४।१४) के अनुसार धर्मनियन्त्रित राजतन्त्र का सिद्धान्त है। धर्म-कर्म, संस्कृति, धर्मसंस्था की रक्षा तभी हो सकती है, जब धर्म-नियन्त्रित शासक हो। अन्यथा उच्छृङ्खल शासक सबको ही चौपट कर देता है।

## सत्पुरुषों से एक निवेदन

कुछ लोग कहते हैं कि उपासना या ज्ञान तो मन की चीज हैं। सब कुछ गड़बड़ होने पर भी महात्मा या विद्वान् को इन टटों से दूर रहकर भजन ही करना चाहिये। ठीक है, परन्तु शास्त्र एवं धर्म-स्थान नष्ट हो जाने पर विद्वानों या महात्माओं का शण्डामर्क के तुल्य सरकारीकरण हो जाने पर भजन करने का, धार्मिक होने का मन भी कैसे बन सकेगा? आखिर धार्मिक, आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत मन भी तो शास्त्रों एवं सत्पुरुषों की कृपा से ही बनता हैं, बिना शास्त्रादि के वैसा मन भी नहीं बन सकता हैं। यदि प्रह्लाद ने भी यही सोचा होता कि चलो पितासे विवाद कौन करे? मन में ही रामनाम जपते रहेंगे, ऊपर से पिता की ही बात मन लें तो आज कोई राम-नाम लेनेवाला रह सकता था? परन्तु जब सच्चाई के साथ प्रह्लाद ने अपने जीवन को संकट में डालकर भी सिद्धान्त की रक्षा की, तभी संसार में सिद्धान्त की स्थिरता रह सकी है। इस तरह विद्वान् एवं महात्मा राजतंत्र शासन में भी राजनीति में हस्तक्षेप करते थे, फिर अब तो जनतन्त्र-शासन है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो शासन की सर्वोच्चसत्ता जनता में ही निहीत होती हैं। अतः वास्तविक राजा जनता ही होती है, अतः राजनीतिक दक्षता सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है, फिर तो जनता के धन एवं धर्म की रक्षा का उत्तर दायित्व जनता पर ही होता है। इसलिये जनता के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है कि वह



उदारता, गम्भीरता और दक्षता के साथ राष्ट्र एवं धर्म का हिताहित देखकर कर्तव्य का निर्धारण एवं पालन करे। जहाँ न राजतन्त्र हो, न जनतन्त्र हो; किन्तु अधिनायकतन्त्र डिकटेटरशिप हो, वहाँ पर तो विशिष्ट दक्ष राजनीतिज्ञ विद्वानों एवं महात्माओं के सिवा दूसरा कोई कुछ कर ही नहीं सकता है। जनता का संग्रह, उसे प्रोत्साहन देना एवं क्रान्ति के लिये उसे तैयार करना भी राजनीतिज्ञों के ही वश की बात है। ऐसे समय में धर्म एवं धर्मशास्त्रों की रक्षा के लिये विद्वानों को सामने आना पड़ता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि—

**स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः।**
**स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरंभवेत्।।**

(सूतसंहिता, ज्ञानयोग ख० २०।५४)

विद्वानों को वैदिक-धर्म की स्थापना के लिये सुदृढ़ प्रयत्न करना चाहिये वैदिक-धर्म के स्थिर होने पर सब कुछ स्थिर हो जायेगा। यहीं यह भी कहा गया ही है कि 'जो समर्थ होने पर भी सर्व प्रकार से धर्मरक्षार्थ प्रयत्नशील नहीं होता वह पाप का भागी होता है। माता-पिता की, गुरुजनों की जन समूह के धन-धर्म एवं प्राणों का विनाश हो रहा हो, कोई समर्थ पुरुष बैठे-बैठे तमाशा देखे, कुछ प्रयत्न न करे। यह प्रत्यक्ष ही पाप है—

**यश्च स्थापयितुं शक्तों नैव कुर्याद् विमोहितः।**
**तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः।।**

(सूतसंहिता, २।२०।५५)

किन्तु जो समर्थ न होने पर भी यथाशक्ति धर्मशास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है, वह उसी पुण्य के प्रभाव से सब पापों से मुक्त होकर सम्यक ज्ञान का भागी होता है. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि यम कहे जाते हैं। यह निवत्तिमार्गानुसारियों के लिये बड़े ही महत्त्व के हैं। सौच, संतोष, स्वाध्याय आदि में कुछ गड़बड़ी क्षम्य भी हो

सकती है, परन्तु यम के सेवन में तो पूर्ण तत्परता होनी चाहिये। इस लिये कहा गया है—'**यमान् सेवेत सततं नियमान् मत्परः क्वाचित्** (श्रीमद्भ०) यमों का सेवन सर्वदा ही करना चाहिये। नियमों से सामत्य न होने पर भी काम चल सकता है। अहिंसा आदि का अभिप्राय है—मनसा, वाचा कर्मणा, प्राणिरक्षण करना, प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना। यही लोकरक्षण, प्राणिरक्षण, धर्मरक्षण राजनीति का मुख्य लक्ष्य है, यही क्षत-त्राण है। इसी कारण महात्माओं की इन कार्यों में प्रवृत्ति होती थी। कालकवृक्षीय-जैसे अरण्यवासी, चाणक्य-जैसे बालब्रह्मचारी, समर्थ स्वामी जैसे निवृत्तिनिष्ठ लोग भी इस काम में संलग्न हुए। फिर भले ही इसकाम में सफलता मिले अथवा न मिले, समुचित प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता। उसका अदृष्ट फल तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, तभी तो भगवान् कृष्ण ने कहा था—

**यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धवाक्षभोऽपि सन्।**
**शर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग् ज्ञानमवाप्नुयात्।।**
**धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नौ चेत् प्राप्नोति मानवः।**
**प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः।।**

(महा० उद्यो० ९३।६)

इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान दुरवसरपर जब कि जनता के धन-धर्मपर संकट उपस्थित है, विशिष्ट विद्वानों, महात्माओं तथा धार्मिक सत्गृहस्तों को भी राजनीति से न डरकर आगे आना चाहिये और धर्म रक्षण के लिये जो भी आवश्यक कार्य हो करना चाहिये। परिणाम निश्चयेन शुभ मङ्गलमय ही होगा। शिवमिति दिक्।

❁❁❁